समकालीन
भारतीय साहित्य

3

वर्ष : १ □ अंक : ३ □ जनवरी-मार्च १९८१ □ मूल्य : ५ रुपये

साहित्य अकादेमी के
कतिपय महत्त्वपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

१. टालस्टाय और भारत : टालस्टाय स्टेट म्यूजियम के सलाहकार अलेक्ज़ेण्डर शिफ़मन की मूल रूसी पुस्तक के अ० वी० एंसाउलोव कृत अंग्रेज़ी संस्करण का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : प्रभाकर माचवे। इस ग्रन्थ पर मूल लेखक को 'नेहरू पुरस्कार' भी प्राप्त हो चुका है। (१९६९), पृष्ठ ११६। मूल्य ५.००।

२. बाबरनामा : (अरबी की कालजयी कृति) प्रथम मुग़ल बादशाह बाबर (१४८२-१५३०) द्वारा तुर्की भाषा में लिखी हुई दैनिकी (डायरी) के उद्धरणों के संकलन पर आधारित ग्रन्थ। एफ० जी० तालबोत के संक्षिप्त संस्करण का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : युगजीत नवलपुरी। (१९७४), पृष्ठ ५२१। मूल्य ३०.००।

३. मेरी जीवनी : तमिल साहित्य के उन्नायक डा० वी० स्वामीनाथ अय्यर की 'एन चरित्रम' नामक तमिल भाषा में लिखित आत्म-कथा का हिन्दी अनुवाद। तमिल भाषा से अनुवादिका : आनन्दी रामनाथन। (१९७०), पृष्ठ ४८०। मूल्य १०.००।

४. मेरी जीवन स्मृतियाँ : असमिया साहित्य के उन्नायक लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की 'मोर जीवन सोवरण' शीर्षक असमिया भाषा में रचित आत्म-कथा का हिन्दी अनुवाद। असमिया भाषा से अनुवादक : हंसकुमार तिवारी। (१९७७), पृष्ठ १५६। मूल्य १०.००।

५. स्मृति के चित्र : कविवर रेवरेंड नारायण वामन तिलक की पत्नी श्रीमती लक्ष्मीबाई तिलक (१८७३-१९३६) के प्रसिद्ध 'स्मृति चित्र' नामक मराठी ग्रन्थ का देवदत्त नारायण तिलक द्वारा कृत संक्षिप्त संस्करण का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे। (१९७०), पृष्ठ ४६४। मूल्य ८.५०।

६. शब्दकोश : तिब्बती-हिन्दी शब्दकोश (भाग १)

मूलत: प्रस्तुत द्वि-भाषी शब्दकोश के रचनाकार थे महापंडित राहुल सांकृत्यायन। मुद्रण से पूर्व उनके अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण पाण्डुलिपि में सुधार इत्यादि का काम किया था विश्व भारती के तिब्बती विभाग के अध्यापक सुनीतिकुमार पाठक ने। (१९७२), पृष्ठ २९९। मूल्य ५०.००।

•

समकालीन भारतीय साहित्य

सम्पादक मण्डल

- प्रो० उमाशंकर जोशी
  अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी
- डॉ० वी० के० गोकाक
  उपाध्यक्ष, साहित्य अकादेमी
- डॉ० र० श० केलकर
  सचिव, साहित्य अकादेमी

सम्पादक

शानी

समकालीन भारतीय साहित्य

वर्ष : १ अंक : ३ जनवरी-मार्च, १९८१

इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्री मूलतः विभिन्न भारतीय भाषाओं के समसामयिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य से प्रस्तुत की गई है। यह साहित्य अकादेमी की तथा सम्पादक की नीतियों व विचारों को प्रतिबिम्बित करे—यह आवश्यक नहीं है।

आवरण-सज्जा : हरिप्रकाश त्यागी आवरण-रेखांकन : के० खोसा

एक प्रति : पाँच रुपये, वार्षिक : सोलह रुपये। वार्षिक ग्राहक बनने के लिए शुल्क साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-११०००१ के नाम भेजें।

परिचय

बंधु शर्मा : डोगरी के सार्थक रचनाकार। कहानियों से अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में सफल हुए। अनेक रचनाएँ प्रकाशित व अनूदित।

वेद राही : डोगरी के प्रमुख चर्चित रचनाकार। हिन्दी में भी समान रूप से लिखते तथा अनुवाद करते हैं। अनेक रचनाएँ प्रकाशित व अनूदित हुई हैं। फिल्मकार भी हैं।

आदवन सुंदरम : जन्म १९४२। तमिष् के नयी पीढ़ी के महत्वपूर्ण कथाकार। पहला कहानी संग्रह १९७४ में छपा; अब तक ४ कहानी संग्रह और २ उपन्यास प्रकाशित। गत वर्ष रूसी पत्र 'फॉरेन लिटरेचर' के जनवरी-८० के अंक में एक लघु उपन्यास प्रकाशित व चर्चित। संप्रति नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया में सहायक संपादक।

डी० जयकांतन : जन्म १९३४। बचपन साम्यवादी दल के कार्यालय में बीता, अनेक छोटे-मोटे काम करने के बाद स्वतंत्र लेखन में जम गए। प्रसिद्ध तमिष् कथाकार व चलचित्र-निर्माता तथा 'शिल नेरंगलिल शिल मनिदर्गल' नामक उपन्यास के लिए १९७२ में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत।

जीवकान्त : जन्म १९३६। मैथिली की नई पीढ़ी के प्रतिष्टित कवि-कथाकार। अब तक ५ उपन्यास, २ कहानी संग्रह और एक कविता संग्रह प्रकाशित तथा बहुत-सी सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है। संप्रति महात्मा गाँधी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, खजौली, मधुबनी (बिहार) में शिक्षक।

सुभाष चन्द्र यादव : जन्म १९४८, सहरसा (बिहार)। मैथिली के अग्रणी युवा कथाकार। लगभग ४० कहानियाँ प्रकाशित। फ़िलहाल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिन्दी के शोध-छात्र हैं।

श्री गोविन्द झा : मैथिली के चर्चित कथाकार। अनेक कहानियाँ प्रकाशित। मूलतः मनोवैज्ञानिक संवेगों के द्वारा यथार्थ चित्रण करने में रुचि रखते हैं।

नृसिंह राजपुरोहित : राजस्थानी के लब्धप्रतिष्ठ कथाकार। लोकभाषा शैली में शिल्प की अद्भुत क्षमता से समकालीन समस्याओं से साक्षात्कार करते हैं। अनेक साहित्यिक कार्यों से संबद्ध रहे हैं। कई रचनाएँ प्रकाशित व अनूदित।

विजयदान देथा : जन्म १९२६। राजस्थानी के विख्यात लेखक। हिन्दी में भी कई पुस्तकें लिखी हैं। अनेक साहित्यिक पत्रों के संपादक रहे तथा बोरुंदा गाँव में लोक साहित्य के लिए कार्य करने वाले रूपायन संस्थान के संस्थापक व सचिव हैं। 'बाँता री फुलवारी' नामक लोक कथाओं के क्रम को लोक-साहित्य के अध्ययन व चित्रण के लिए राजस्थानी साहित्य को महान देन माना जाता है। इसके दसवें भाग के लिए १९७४ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त कर चुके हैं।

पद्मा सचदेव : जन्म १९४०। डोगरी की प्रमुख कवियत्री। हिन्दी व उर्दू में भी लिखती हैं। अनेक रचनाएँ प्रकाशित। 'मेरी कविता मेरे गीत' नामक कविता संग्रह के लिए डोगरी

भाषा के लिए १९७१ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त किया है। फ़िलहाल आकाशवाणी, बम्बई से संबद्ध हैं।

'मधुकर' : डोगरी के अग्रणी कवि। अनेक रचनाएँ प्रकाशित व अनूदित। अन्य विधाओं में भी लिखते हैं। कुछ रचनाएँ हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं।

एन० वी० कृष्ण वारियर : जन्म १९१६। मलयालम के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक तथा कवि। वर्षों अध्यापन कार्य करने के बाद १९५० में 'मातृभूमि' के सहायक संपादक तथा बाद में प्रमुख संपादक हुए, १९६८ में केरल के राज्य भाषा संस्थान के निदेशक बने तथा १९७६ में द्रविड़ भाषाशास्त्र संगठन के वरिष्ठ सदस्य रहे। अब तक लगभग ७ कविता संग्रह, ५ नाटक, ४ निबंध संग्रह तथा २ यात्रा वृतान्त प्रकाशित। आलोचना की पुस्तक 'वल्लत्तोलिन्टे काव्यशिल्पम्' के लिए १९७९ में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत।

कुलानन्द मिश्र : मैथिली के प्रमुख कवि। अनेक रचनाएँ प्रकाशित व अनूदित।

वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' : मैथिली के सुप्रसिद्ध कवि व कथाकार तथा हिन्दी में 'नागार्जुन' नाम से प्रसिद्ध। दोनों ही भाषाओं की पत्रिकाओं में इनका साहित्य बिखरा पड़ा है। प्रमुख पुस्तकें हैं : बलचमना, रतिनाथ की चाची, सतरंगे पंखों वाली। साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत।

चन्द्र प्रकाश देवल : जन्म १९४९। राजस्थानी के युवा व प्रतिष्ठित कवि तथा कहानीकार। पहले ही कविता-संग्रह 'पागी' पर १९७९ में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त किया है। संप्रति अजमेर के जवाहरलाल नेहरू आयुर्विज्ञान महाविद्यालय में रसायनज्ञ।

मणि मधुकर : जन्म १९४२। हिन्दी व राजस्थानी में समान रूप से चर्चित व प्रतिष्ठित कवि, कथाकार व नाटककार। अनेक हिन्दी व राजस्थानी पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया। दक्षिण साहित्य संगम, राजस्थान ललित कला अकादेमी, साहित्य अकादेमी व अन्यान्य अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। सफ़ेद मेमने, रसगंधर्व, पागफेरो, घास का घराना, पिछला पहाड़ा, खेला पोलमपुर व दुलारीबाई प्रमुख पुस्तकें हैं।

'अज्ञेय' : जन्म १९११। हिन्दी के प्रवर्तक कवि, कथाकार तथा पत्रकार। विभिन्न प्रतिष्ठित हिन्दी-अंग्रेज़ी पत्रों के संपादक रहे। हिन्दी में नयी कविता के शीर्षस्थ कवि। 'शेखर-एक जीवनी' व 'नदी के द्वीप' से उपन्यास जगत् में प्रतिमान स्थापित किए। यात्रा-संस्मरण व चिन्तन की पुस्तकों ने उन्हें विचारक के रूप में स्थापित किया। उनके द्वारा संपादित तार-सप्तक व सप्तकों की श्रृङ्खला हिन्दी कविता की यात्रा के महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं। आँगन के पार द्वार, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, असाध्य वीणा, पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा अन्य पुरस्कारों के अतिरिक्त सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी सम्मानित हो चुके हैं।

चन्द्रकांत देवताले : हिन्दी के प्रखर कवि। साठोत्तरी कविता में अलग पहचान के रूप में सामने आए। प्रमुख कविता संग्रह हैं : दीवारों पर खून से, लकड़बग्घा हँस रहा है।

पद्मधर त्रिपाठी : हिन्दी के युवा कवि तथा आलोचक। लेखन के अतिरिक्त पत्रकारिता के क्षेत्र में भी अधिकार रखते हैं। 'सहज कविता' धारा के कवि। सम्प्रति नेशनल पब्लिशिंग हाउस से सम्बद्ध।

रघुवीर सहाय : जन्म १९२९। हिन्दी के बहुचर्चित कवि तथा आलोचक-पत्रकार।

विभिन्न साहित्यिक-पत्रिकाओं व समाचार-पत्रों से जुड़े रहे हैं। अब तक ६ से अधिक कविता, आलोचना की पुस्तकें प्रकाशित। प्रमुख पुस्तकें हैं : हँसो हँसो जल्दी हँसो, आत्महत्या के विरुद्ध, व सीढ़ियों पर धूप में। संप्रति दिनमान के सम्पादक।

लीलाधर जगूड़ी : हिंदी कविता के सशक्त हस्ताक्षर। अपने शिल्प के कारण पर्याप्त चर्चित। सही वाम के प्रतिबद्ध रचनाकार। प्रमुख पुस्तकें हैं : नाटक जारी है, इस यात्रा में।

गिरिराज किशोर : जन्म १९३७। हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कथाकार व नाटककार। प्रमुख कृतियाँ हैं : लोग, जुगलबंदी, दो, इन्द्र सुनें (उपन्यास); नीम के फूल, चार मोती बे-आब, पेपरवेट, हम प्यार कर लें (कहानी-संग्रह); प्रजा ही रहने दो, घोड़ा और घास (नाटक)। संप्रति आई० आई० टी० कानपुर में रजिस्ट्रार पद पर।

भीष्म साहनी : जन्म १९१५, रावलपिंडी (अब पाकिस्तान में)। हिन्दी के बहुचर्चित कथाकार व नाटककार। १९६५-६८ तक 'नयी कहानियाँ' के संपादक रहे। लगभग ५ उपन्यास, ४ कथा-संग्रह व एक नाटक प्रकाशित। पंजाब सरकार द्वारा १९७४ में 'शिरोमणि लेखक' की उपाधि प्राप्त की तथा १९७५ में साहित्य अकादेमी ने 'तमस' नामक उपन्यास के लिए पुरस्कार दिया। संप्रति ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली में अंग्रेज़ी के वरिष्ठ प्राध्यापक।

महावीरसिंह चौहान : हिन्दी में आलोचनात्मक साहित्य लिखते हैं। गुजराती साहित्य की मूल चेतना की गहरी पकड़ है। इधर-उधर रचनाएँ प्रकाशित।

इन्द्रनाथ चौधुरी : हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक तथा बंगला के हिन्दी में अनुवादक। इनकी रचनाएँ अनेक पत्रिकाओं में छपती रही हैं। बंगला व हिन्दी दोनों में समकालीन साहित्य के आधिकारिक अध्येता।

प्रयाग शुक्ल : हिन्दी की नयी युवा कविता के हस्ताक्षर तथा कला के अन्वेषणपूर्ण समीक्षक हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित, प्रमुख चर्चित रचना : कविता संभव। संप्रति दिनमान के संपादकीय विभाग से संबद्ध।

हरिप्रकाश त्यागी : जन्म १९४९। चर्चित युवा चित्रकार, कथाकार व अग्रणी आवरण-शिल्पी। १९६८, १९७० व १९७१ में एकल प्रदर्शनियाँ कीं। 'दूसरा आदमी लाओ' नामक बहुचर्चित उपन्यास के रचयिता। संप्रति उपग्रह दूरदर्शन, नई दिल्ली के कला विभाग से संबद्ध।

के० खोसा : जन्म १९४०। प्रख्यात समकालीन भारतीय चित्रकार। १९६५, १९६६ व १९६८ में एकल प्रदर्शनियाँ कीं तथा इसके अतिरिक्त अनेक ग्रुप प्रदर्शनियाँ एवं पूर्वी यूरोपीय देशों में भारत सरकार द्वारा आयोजित प्रदर्शनियाँ। तीसरी व चौथी विश्व कला प्रदर्शनी में सहयोग। १९७४ में राष्ट्रपति पदक प्राप्त किया। फ़िलहाल भारत सरकार के संस्कृति विभाग की विशिष्ट फ़ैलोशिप के अंतर्गत कार्य कर रहे हैं।

सरसरी हम जहान से गुज़रे...

"इसे किस तरह समझाया जाय ? उसने अपने आप से नाराज़ होते हुए कहा—कभी न कभी यह आपके साथ भी हुआ होगा। ज़रूर हुआ होगा। आप अपनी गाड़ी से खिड़की से बाहर देख रही हैं और अचानक बेंत की झाड़ियों में छुपा हुआ जंगली रास्ता नज़रों में कौंध जाता है पतझर के जालों और सूरज की रोशनी में चमकता हुआ ! आपका जी चाहता है कि आप रेलगाड़ी से छलांग लगाकर वहीं रह जायें—उसी जंगली रास्ते में, हमेशा के लिए। लेकिन रेलगाड़ी भागती चली जाती है। आप अपना सिर खिड़की के बाहर रख देती हैं और चुपचाप देखती रह जाती हैं—जंगल, मैदान, घोड़ों और देहाती पगडण्डियों को एक दूरी में डूबते और ग़ायब होते हुए। आपको एक अजीब मायावी आवाज़ सुनाई देती है, वह क्या है, आप नहीं जानतीं। शायद वे पेड़ हैं या हवा या टेलीग्राफ के तारों की गुनगुनाहट। शायद यह पटरियों पर रेलगाड़ी की आवाज़ है। पल भर के लिए वहाँ होती है और फिर नहीं होती। लेकिन यह वह है जिसे आप ज़िन्दगी भर याद रखती हैं..."

यह कांसतेन्तिन पास्तोवस्की की एक प्रसिद्ध कहानी 'द रेनी डान' के

नायक की संवेदना है—वर्षा भरी एक आधी रात को एक अजनबी स्त्री के सामने उगली हुई। यह अपने को समझने और उसे समझाने की छटपटाहट में रखी हुई अभिव्यक्ति है जो ऊपर से तो भावुकताभरी और रूमानी लगती है—एक हद तक कविता—लेकिन यह हमारे आंतरिक संसार के महीनतरीन रेशे को सचमुच के हाथों से पकड़ने की कोशिश है। यहाँ जिस कौंध का ज़िक्र है, वही कहानी है या जिस क्षण की बात की गयी है उसी से कविता या कहानी का जन्म होता है। वह चाहे पास्तोवस्की की कहानी 'द रेनी डान' हो या समकालीन भारतीय साहित्य के पिछले अंकों में प्रकाशित जादू, मौनी, समय की चौखट, सरल और शम्पा या इस अंक में प्रकाशित रचनाएँ...और क्या यही बात भाषाओं की दुनिया में चरितार्थ नहीं होती ? खासकर तब जब आप इनके बीच यात्रा कर रहे हों और बार-बार ऐसी कौंधें आपको हैरान करें या खासकर तब और जब आप उन लोगों में न हों जिनके बारे में मीर ने कहा है :

सरसरी हम जहान से गुज़रे,
वरना हर जा जहाने दीगर था।

देखिए, इनमें से गुज़रते हुए आपको ऐसा लगता है या नहीं।

हमने इस बार पाँच भाषाओं—डोगरी, तमिष़, मैथिली, राजस्थानी और हिन्दी का रचनात्मक साहित्य दिया है, दो भाषाओं—गुजराती और बंगला की साहित्यिक दुनिया की पड़ताल करने वाले लेख दिए हैं और कन्नड़ तथा मराठी की महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियों पर चर्चा की है—रस्मन नहीं बाकायदा। अगले अंकों में इसे और भी व्यापक बनाने की योजना है—हमें आपकी प्रतिक्रिया और सुझाव की प्रतीक्षा रहेगी।

नये वर्ष की मंगलकामनाओं सहित,

□ शानी

बूढ़ा गायक

□ बन्धु शर्मा
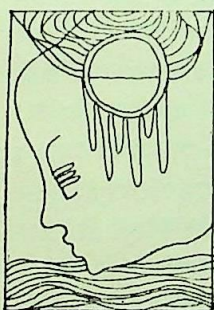
कहानी

रात काफी ढल चुकी थी। चाँद चारों ओर अपनी ज्योत्सना की छटा बिखेर रहा था। बड़े मन्दिर की ऊँची और चाँदनी से नहायी बुर्जियों की प्रतिच्छाया पीछे तालाब के बिल्लौरी पानी की सतह पर झिलमिला रही थी। तालाब की संगमरमरी सीढ़ियों पर बैठा हुआ गहरी सोच में डूबा रामधन सिगरेट के कश खींच रहा था।

उसके कान में साँ...साँ की आवाज पड़ रही थी जैसे हवा में कोई स्वर-लहरियों को छोड़ रहा हो। तीन चार कौए अपने काले पंख बिखराए उड़ान भरते हुए आए और मन्दिर की फिसलन भरी बुर्जियों पर बैठने लगे—खड़...खड़...खड़ उनके पंख पंखा-सा झुलाते रहे और एक दूसरे को नीचा दिखाने की होड़ में ही उड़ान भरकर कहीं दूर गायब हो गए।

उसने नयी सिगरेट सुलगायी। दो तीन कश खींचे और उठकर सीढ़ियों पर चहलकदमी करने लगा। वह किसी द्वन्द्व में उलझा-सा लग रहा था।

रामधन इसी मन्दिर का गायक है। तीस वर्ष से वह इस मन्दिर में अपनी आवाज़ लुटा रहा है। हर रोज दोनों पहर उसे ठाकुरों की चौकी देनी पड़ती है। लोग सुनते हैं और वह गाता

है—मीरा, तुलसी और सूर के कितने ही भजन उसे जबानी याद हैं। उनको उसने स्वयं ही स्वर दिया है—जब वह जवान था। और ये स्वर अब भी जवान हैं और उसकी जवानी के साथ एकाकार होकर सदाबहार हो उठे हैं। और उसकी आवाज़—वह अब भी मीठी है जैसे उसके गाँव के चश्मे का मीठा पानी। वैसी ही रसीली है जैसे पहाड़ी झरने की कलकल।

वह अपने आपको समझाता—सच कुछ और ही है। श्रोताओं की हिल्ल-झुल्ल उसे समझाती—महंत हरिगिरी का मोटा स्वर उसे जतलाता पर वह यह सब कुछ सुनने-समझने को तैयार नहीं था। उसने तो अपनी जवानी और आवाज़ इसी मन्दिर की चमकती, जगमगाती सुनहरी बुर्जियों के नीचे लुटा दी थी। उसके गले का रस वहाँ लगे हुए मौलसरी और आम के वृक्षों में भरा हुआ था; उसकी तानें और लय की स्वर-लहरियाँ सुगन्धित धूप, अगर तथा कपूर के घेरों में फैलकर चारों ओर व्याप्त हो चुकीं थीं।

तीस साल पहले जब वह यहाँ आया था तो इस मन्दिर की गद्दी पर महंत ब्रह्मगिरी का राज्य था। महंत जी दोहरे शरीर के ऊँचे लम्बे व्यक्तित्व के स्वामी थे। शान्त चेहरा, ऊँचा चमकता हुआ ललाट और गहरी काली आँखें जिनमें साधना की लाली घुली रहती। जिधर निकल जाते लोग सम्मान और श्रद्धा से झुक जाते—मन्दिर के पुजारी, चौकीदार, चेले-ब्रह्मचारी और पाठशाला के विद्यार्थी सभी उनके हाथ बाँधे गुलाम थे। वे ज़रा-सा होंठ हिलाते कि काम हो जाता। उनको सब किसी का ख्याल था और वे सब से नम्रता और प्यार से बोलते। खद्दर का खुला चोला और खड़ाऊँ डाले वे मन्दिर किसी भी भाग में देखे जा सकते थे। मन्दिर की गौशाला, पाठशाला और अतिथिघर आदि का प्रबन्ध वे स्वयं ही देखते। रोगी, कमजोर व्यक्तियों की दवादारू भी स्वयं ही करते—बड़ा ही सादा और आदर्शमय जीवन था महंत ब्रह्मगिरी का।

रामधन जब अतिथिशाला में पहुँचा था तो उस समय शाम के साए गहरा रहे थे। बाहर भजन-कीर्तन चल रहा था। कुछ देर तक वह कमरे में बैठा सुनता रहा पर जब नहीं रहा गया तो वह भी वहाँ आकर बैठ गया। फिर झिझकते हुए सुर के साथ सुर मिलाने लगा। उसकी आवाज़ में जोश था, रस था और सबसे बड़ी बात ताज़गी थी जिसके कारण सबका ध्यान उसने अपनी ओर आर्कषित कर लिया। जब आरती हो चुकी तो मंहत जी भी उधर आ निकले। श्रोताओं ने रामधन को भजन सुनाने को कहा। उसने झिझकते, शर्माते हुए दो भजन गाए। महंत जी आँखें बन्द किए सुन रहे थे। उनके होठों पर एक स्निग्ध मुस्कान उभर आयी।

अपने कमरे में लौटा तो सोच रहा था कि आज ईश्वर से कुछ और माँगता तो शायद वह भी मिल जाता। नौकरी उसे इस तरह पत्थर पर लिखी हुई मिल जाएगी उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। घर से चलते हुए अनेक चिंताओं और संशयों ने उसे आ घेरा था—कहीं फाकों की ही नौबत न आ जाए। किन्तु उसे अपनी बाँहों पर विश्वास था—कम से कम मजदूरी तो कर ही पाऊँगा। उसने मन में यह निश्चय कर लिया था कि बिना कोई काम पाए वह अब गाँव नहीं लौटेगा। पर उसका गाना ही उसके काम आएगा ऐसा उसने कभी सोचा भी नहीं था। इस गाने के कारण ही वह घर-बाहर हर जगह दुत्कारा गया था। लोग उसे जानवर, नाकारा, हड्ड-हराम और पता नहीं क्या-क्या कहते थे। गाँव वालों की बातें सुनकर माँ को भी चिंता खाने लगी थी कि पता नहीं इससे कोई ब्याह करेगी कि नहीं ? लोग सिर्फ शक्ल ही नहीं सलीका भी देखते हैं।

माँ को उदास देखकर वह उसे दिलासा दे देता था—'गाना कोई ऐब तो नहीं माँ ! मैं किसी के घर जाकर तो नहीं गाता ? ये लोग क्यों मेरा गाना सुनते हैं ? अपने रास्ते क्यों नहीं चलते ? मैं तो अकेले झरनों के किनारे या पहाड़ों की तराइयों में गाता हूँ—इससे किसी का क्या बिगड़ता है ?' वह गुस्सा जाता ।

'किसी का नहीं पर तुम्हारा तो बिगड़ता है । गाँव वाले इसीलिए समझाते हैं ।' माँ उत्तर देती ।

'तुम सारी रात रासधारियों के डेरों की खाक छानते रहते हो जिनका न तो घर है न घराट । मैं औरत होकर किस-किस की जवान पकड़ूँ । तुम कोई काम क्यों नहीं करते ?' यह कहते-कहते उसकी आँखें भीग जातीं । माँ के आँसू उसकी जवान को जैसे लकवा जाते । और एक दिन वह काम की तलाश में निकल ही पड़ा था ।

दूसरे ही दिन उसने माँ को चिट्ठी लिख दी थी कि कैसे उसे शहर के बड़े मन्दिर की भजन-मण्डली में नौकरी मिल गई थी । बीस रुपया मासिक तनख्वाह और खाना-कमरा साथ में । तरक्की महंत जी की दया पर होगी ।

महंत जी की मेहरबानी होती रही और रामधन की हालत सुधरती रही । मन्दिर का हर काज उसके भजन से आरम्भ होकर उसके ही भजन से सम्पूर्णता प्राप्त करता । बाहर से जितने भी उपदेशक, कथावाचक आदि प्रवचन देने आते उनके प्रवचनों के पहले और बाद में रामधन की सुरीली आवाज़ मंदिर में गूँज उठती । विशेष पर्वों पर महंत जी रामधन का विशेष ख्याल रखते । पहली जन्माष्टमी को ही रामधन भजन-मण्डली का मुखिया बना दिया गया उसे रेशमी वस्त्रों और धन से सम्मानित किया गया । रात को उसकी माँ, जो विशेष तौर पर इस उत्सव में शामिल होने के लिए गाँव से आई थी, रामधन को उमंग भरी आँखों से देखती रही । उसकी आँखों में अनेक स्वप्न तैरते रहे । रामधन की बहू के स्वप्न को आँखों में सँजोए वह गाँव लौट आई थी । रामधन माँ की बात मान गया था ।

मन्दिर का एक अपना छोटा-सा संसार था जिसके केन्द्र में महंत ब्रह्मगिरी का अस्तित्व फैला रहता । रामधन के लिए वे क्षण बड़े महत्वपूर्ण होते जब महंत जी स्नान कर मौलसरी और आम के वृक्षों के नीचे से होकर मस्ती से चलते हुए साधना में रत, आंखों में सागर सी गहराई लिए अपनी ओज की किरणों को फैलाते ऐसे लगते मानो आसमान से कोई फरिश्ता धरती पर उतर आया हो ।

एक रात अचानक महंत जी बीमार पड़ गए । सब ब्रह्मचारी उनके दिवान के आगे-पीछे इकट्ठे हो गए । उपचार के बावजूद उनकी हालत में कोई सुधार नहीं हुआ । धीरे-धीरे उनकी बोलती बन्द हो गई । वे चारों ओर बिटर-बिटर कर देखते रहे । चेहरा अब भी शांत था मानो कोई पीड़ा-दर्द कहीं कुछ न हो । फिर उन्होंने इशारे से हरिदत्त को अपने पास बुलाया था—इशारे से । उसके सिर पर सबके देखते-देखते अपना वरद हाथ रख दिया । फिर नीचे उतारने का संकेत किया । सबने मिलकर उन्हें नीचे उतारकर फर्श पर टिका दिया । पास ही बैठा हरिदत्त रुँधे गले से गीता पाठ करने लगा ।

अब हरिदत्त गद्दी का मालिक था जो महंत हरिगिरी कहलाने लगा । पचीस-छब्बीस वर्ष की आयु, अंग-अंग में से झलकती जवानी, स्वप्नों से भरी आँखें—आज़ादी और अधिकार मिलने से अनुशासन में ढकी उसकी जवानी ऐसे फूट निकली जिस तरह राख की परतें झाड़ते

ही अंगार महक उठते हैं। पैसा, जवानी और अधिकार का नशा धीरे-धीरे रंग लाने लगा। नए सिद्धान्त, नए विचार। हर वस्तु में नए के लिए परिवर्तन होने लगे। जो वातावरण महंत ब्रह्मगिरी ने अपने बलिदान, तपस्या, सादगी और हिरख-प्यार से बनाया हुआ था। उसे बेरंग करने के प्रयास जोर-शोर से होने लगे। धीरे-धीरे मन्दिर के बुजुर्ग पुजारियों को भी नकार कर नया महंत बाजार में आ गया। सिनेमाओं और कहवाखानों के चक्कर आम बात हो गई। आँखों में साधना की लाली की जगह भंग का नशा और होठों पर तम्बाकू के पानों की सुर्खी छाने लगी। महंत के सोने-रहने वाले कमरे में जहाँ कभी औरतों की प्रतिच्छाया भी नहीं पड़ती थी वहाँ अब किसी के भी जाने में रोक नहीं थी। महंत अपनी मस्ती भरी आखों को खोलते हुए भक्तजनों को उपदेश देता—

'संयम की दीवारों के आगे सब सैलाब रुक जाते हैं।'

उधर रामधन अब महसूस करने लगा था कि उसका मन अब कम होने लगा है। आरती के बाद महंत और उसके साथी भजन-कीर्तन सुनने को कम ही ठहरते थे। अगर कभी ठहर भी जाते तो उसके गाने से उन्हें सन्तोष नहीं होता। वह झट से उठ खड़े होते। श्रोता अब और सुनने की फरमाइशें नहीं करते और न ही उसे अब वह वाह...वाह...मिलती थी जो ब्रह्मगिरी के समय में वह पाता था। अलबत्ता कुछ लोग उसका मन परचाने को उसे हमदर्दी के दो बोल अवश्य सुनाते। वह समझ रहा था कि उसकी आवाज़ में अब वह असर-जादू नहीं रहा था। उसकी आवाज़ अब थिरक जाती थी और गला धोखा दे जाता था। समय के बलवान हाथ उसके साथ वह खेल खेल रहे हैं जो हर कलाकार के साथ उम्र ढलने पर खेला जाता रहा है। पर वह अपने मन में से जबरन इन विचारों को परे फेंक देता।

रात को अचानक महंत हरिगिरी उसके कमरे में आ निकले। यह पहला मौका था कि नए महंत ने उसके यहाँ आने का कष्ट किया था। वह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और उनसे बैठने की प्रार्थना की।

'नहीं मैं बैठने के लिए नहीं आया, तुमसे एक बात करनी है।' महंत ने खड़े-खड़े ही कहा।

'क्या आज्ञा है?' रामधन ने अपने मन में मची उथल-पुथल को छुपाने का प्रयास करते हुए पूछा।

'परसों जन्माष्टमी है। मैंने एक नया गायक बाहर से बुलवाया है। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने हाथों उसको यह पोशाक पहनाकर पण्डाल में ले आओ।' यह कहते हुए उसने एक गाँठ उसे पकड़ाई और वापिस लौट गया।

गाँठ रामधन के सामने पड़ी थी। कमरे में उसको घुटन-सी महसूस होने लगी। मन्दिर की चमकीली सुनहरी बुर्जियों की परछाईं तालाब के बिल्लौरी पानी की सतह पर पड़ रही थीं। उसने ऊपर देखा। बुर्जियाँ आकाश की ओर उठ रही थीं। कभी वह भी इन बुर्जियों की ऊँचाइयों को नापता था पर अब उसे लग रहा था कि ये बहुत ऊँची उठ गई हैं। वह क्या करे? सोचता रहा था। मन्दिर छोड़ना उसके लिए अति कठिन था। यहाँ उसने अपनी उम्र के तीस साल दिए थे। पर यहाँ रहना और भी घुटन भरा था। दया, अपमान और बेकदरी के अलावा कुछ भी अपेक्षा करना इस स्थिति में बड़ा असम्भव-सा था।

जब वह कमरे में लौटा तो रात आधी से ज्यादा बीत चुकी थी। उसने सामने पड़ी गाँठ

की ओर देखा जिसमें आने वाले नए गायक की पोशाक पड़ी थी। उसने गाँठ को खोला और कितनी ही देर उन कीमती रंग-बिरंगे कपड़ों को ललचाई आँखों से देखता रहा। फिर धीरे से उठकर अपने कमरे के किवाड़ बंद किए। एक-एक कर अपने पहने हुए कपड़े खोले और बिल्कुल नंगा हो गया। कितनी ही देर वह इस हालत में खड़ा कभी अपने बूढ़े शरीर को और कभी अपने सामने पड़े रंग-बिरंगे कपड़ों को देखता रहा। आखिर आगे बढ़ा। काँपते हाथों से सामने पड़ी पोशाक उठा ली।

सुबह पण्डाल में बैठा हुआ रामधन बड़ी दर्द भरी आवाज़ में मीरा का भजन गा रहा था और उसके पास बैठे हुए लोग रामधन के बूढ़े शरीर के ऊपर ओपरी-सी पोशाक को चमकते देखकर मन ही मन हँस रहे थे। महंत के चेले और साथी सोच रहे थे कि जन्माष्टमी तो अभी कल है पर रामधन ने यह पोशाक आज ही क्यों पहन ली है।

डोगरी से अशोक जैरथ द्वारा अनूदित

चार पैरों वाली लाश

□ वेद राही

मोड़ खत्म होते ही सामने रामबन दिखाई देने लगा। पर इतने अँधेरे में सिर्फ दो दुकानों की मद्धम-मद्धम रोशनी से ही पता चलता था कि ये रामबन है। पास में बहती हुई चिनाब की की मुसलसल शाँ ऽ ऽ शाँ ऽ ऽ के अतिरिक्त और कोई आवाज़ वातावरण में न थी।

चूनी ने तित्तरु के तंदूर के आगे ट्रक रोक लिया। ट्रक की गरड़गराँ ऽ ऽ गरड़गराँ ऽ ऽ आवाज़ रुकी तो दरिया की शाँ ऽ ऽ शाँ ऽ ऽ और बढ़ गई। ट्रक की अगली बत्तियाँ बन्द हुईं तो चूनी को लगा, जैसे वह अँधेरे के किसी बहुत बड़े कुएँ में डूब गया है। उसने धीरे-धीरे खिड़की का काँच नीचे करना चाहा, अभी काँच आधा भी नीचे न हुआ था कि ठंडी हवा के एक तेज़ झोंके को झेलकर उसने खट् से शीशा ऊपर चढ़ा दिया। झोंका क्या था मानो बर्फ का थप्पड़ था। अब उसने जाना कि इन्जन की गर्मी से ही अब तक उसका जिस्म ठंड से बचा हुआ था।

उसने हॉर्न बजाया, थोड़ी देर बाद तन्दूर का पिछला दरवाज़ा खुलने की आवाज़ हुई।

'कौन है भाई ?' तित्तरु की आवाज़ थी।

'तित्तरु, मैं हूँ चूनी' और वो मफलर सिर पर लपेटते-लपेटते ट्रक से बाहर आ गया।

'आओ, चूनी शाह जी, क्या खबर है।'

चूनी ठंड से काँपता हुआ अन्दर आया। धुआँती लालटेन, धुएँ में डूबी लौ और चारों तरफ़ धुएँ की कड़वाहट, पर सब गरम-गरम !

'जल्दी पौआ ला तित्तरु, मुझे आगे जाना है। मालिकों का हुकुम है, भई।'

'आपके साथ आज कोई छोकरा-वोकरा भी नहीं है?' तित्तरु ने शराब का पौआ और गिलास चूनी के सामने रखते हुए कहा।

'आज ही बीमार हो गया, स्साला, सरकारी अस्पताल में दाखिल करवा आया हूँ।' कहते-कहते चूनी ने एक ही साँस में पूरा पैग ख़त्म कर दिया। गले से लेकर नाभि तक एक गर्म लहर दौड़ती-सी लगी। 'कुछ खाने को हो तो दो, भई!'

तित्तरु मीट की प्लेट और तीन जली हुई रोटियाँ लेकर आया। तब तक चूनी पूरा पौआ गटक गया था।

'चूनी शाह जी, मेरा कहा मानो, आज रात यहीं रहो। एक पौआ और पिओ, चाहो तो अपनी छमकछल्लो से भी मिल लो।'

'इतनी ठंड में छमकछल्लो से मिलने के लिए तीन कोस का पहाड़ कौन चढ़े, तित्तरु!' चूनी मीट की बोटियाँ तित्तरु की तरफ़ देखे बगैर जल्दी-जल्दी खाता जा रहा था। अब उसकी बातों में नशा घुल गया था।

'हमारी एक छमकछल्लो बटोत में भी है—सड़क के किनारे। लहर आई तो एक डुबकी लगा आएँगे। जल्दी से एक पौआ और लाओ, इन्जन में पेट्रोल तो होना ही चाहिए!'

'आप सचमुच ही सवेरे तक जम्मू पहुँच जाएँगे?' तित्तरु ने बेयक़ीनी के साथ पूछा।

चूनी ने सीने पर हाथ मारा और बोला, 'ये कोई नई बात है क्या? हम नहीं पहुँचेंगे तो कौन पहुँचेगा?'

'अगर पत्तनी टाप पर बर्फ़ हुई तो?'

'तब हम बर्फ़ चीरकर रास्ता बना लेंगे। मालिकों का हुकुम है भई, अभी-अभी तो पीर पंचाल की बर्फ़ चीरकर यहाँ तक पहुँचे हैं। दो दिन से कोई भी गाड़ी इस पार नहीं आ सकी, पर हम खाली ट्रक लेकर अँधेरे में ही पार कर आए हैं। मालिकों का हुकुम जो हुआ!'

'मेरी एक विनती है चूनी शाह जी, मेरे बेटे को भी साथ ले जाइए। कल दोपहर तक उसका बशनाह पहुँचना बहुत ज़रूरी है। उसे अपनी बहू को मैके से विदा करवाना है। अगर कल न पहुँच सका तो कोई फ़ायदा नहीं, परसों तो तारा ही डूब जायेगा। कल सारा दिन इन्तज़ार करते रहे कोई बस नहीं आई। अगर आप उसे ले जाएँ तो आपको भी साथ रहेगा।'

'ठीक है, उसे जल्दी से उठाओ और गाड़ी में बिठा दो।' चूनी ने सिगरेट सुलगाई और गेहूँ के बोरे के सहारे पीठ टिकाकर लंबे-लंबे कश लेने लगा।

कुछ देर बाद ट्रक रामबन से चल दिया।

एक तो नशे की खुमारी और दूसरे जेब में छलकते पौए की गर्मी; चूनी की पेंग आकाश से बातें कर रही थी। कच्ची नींद में उठा मित्तरु अभी आँखें ही मल रहा था। अँधेरे में एक उचकती-सी नज़र उस पर फेंकते हुए चूनी बोला, 'मित्तरु वल्द तित्तरु, यार कोई बात करो, नहीं तो ये रास्ता कैसे कटेगा।'

ठिठुरे हुए चूज़े की तरह मित्तरु ने लोई को अच्छी तरह ओढ़ते हुए कहा, 'उस्ताद जी यहाँ इतनी ठंड है तो पत्तनी टॉप पर क्या हालत होगी, ज़रा सोचो तो सही।'

'सोचना काम सौदाइयों का है। मूर्ख, हम तो ये जानते हैं कि पौ फटने से पहले हमने

जम्मू पहुँचना है, मालिकों का हुकुम जो है भई।' चूनी की सूई मालिकों के हुकुम पर अटक गई थी। दुनिया-जहान को वह भूल चुका का। उसकी नज़र हैडलाइट की रोशनी में आने वाली हर वस्तु पर पड़ रही थी। स्टेयरिंग पर हाथ और ऐक्सीलेटर पर पाँव मशीन की तरह काम कर रहे थे।

उसने जेब में से सिगरेट निकाल कर सुलगा ली।

मित्तरु ने ठंड और डर से काँपती आवाज़ में कहा, 'उस्ताद जी, गाड़ी ज़रा धीरे चलाओ, वड़े घुमावदार रास्ते हैं। क्या आपने सुना नहीं गाड़ी धीरे-धीरे चलती है और औरत बातों-बातों में फँसती है।'

'वाह भई वाह, मित्तरु वल्द तित्तरु, कहावत को कैसे अपनी तरफ मोड़ा है। जैसे हम न जानते हों कि असली कहावत क्या है। पहाड़ धीरे-धीरे और औरत बातों-बातों में, ठीक है या गलत ?'

'आप ही ठीक कह रहे हैं, उस्ताद जी, पर मेरी मानिए तो। गाड़ी ज़रा धीरे ही चलाइए, मन धक्-धक् कर रहा है।'

'घबरा मत मूर्ख, इस सड़क का एक-एक मोड़, एक-एक गड्ढा, एक-एक पत्थर मेरा जाना पहचाना है। जितना मैं इस सड़क को जानता हूँ, उतना तो अपनी किसी छमकछल्लो को भी नहीं जानता।'

'उस्ताद जी, आप कितनी छमकछल्लों को जानते हैं ?'

'भई, सच तो ये है कि हम जन्म-जन्मांतर के मुसाफ़िर है, जहाँ-जहाँ खेमा गाढ़ा वहीं एक न एक छमकछल्लो ढूँढ़ ली, तुम सुनाओ ब्याह के कितने दिन हुए ?'

'मेरी क्या बात पूछते हो उस्ताद जी, हम तो किसी अपशकुन में पैदा हुए थे, पहले तो कहीं गठबन्धन न होता था, रोटी सेंकने के अलावा कभी-कभी आँखें भी सेंक लेते थे बस। बाबूजी ने कई डोरे डाले, तरकीबें लड़ाईं पर कोई बात बनी ही नहीं। आखिर बड़ी मुश्किल से एक जगह वात फिट हुई और हमारा कल्याण हो गया। पर क्या बताऊँ, जैसे नाव दरिया में डालते ही बाढ़ आ गई। अभी गौना भी न हो पाया था कि हमारे ससुर जी परलोक सिधार गए। औरत रोने-पीटने लगी और हम तंदूर पर बैठे-बैठे धुआँ-धुआँ होते रहे। दो महीने बाद परसों उसे लेने जाना था कि बर्फ़बारी शुरू हो गई। जैसे इसी ताक में थी। दो दिन तो किसी गाड़ी की आवाज़ भी कानों में न पड़ी। उस्ताद जी, मुझे वहाँ पहुँचाने के पुण्य से आप सौ साल जिएँगे। सच।'

मित्तरु बोलता जा रहा था और ठंड से गुड़ीमुड़ी भी हुआ जा रहा था। चूनी उसकी बातों का मज़ा लेता हुआ बड़ी सतर्कता से गाड़ी चला रहा था। 'पीड़े' की दलदल लाँघ कर ट्रक अब बटोत के आसपास पहुँच चुका था।

अचानक चूनी के मुँह से निकला 'ओह, मारे गए।'

'क्या हुआ उस्ताद जी ?' मित्तरु ने लोई में से सिर निकालते हुए पूछा।

'बूँदें पड़ने लगी हैं।'

'थोड़ी देर किनारे पर गाड़ी खड़ी करके सुस्ता लो न।'

'मूर्खों वाली बात न कर, मित्तरु वल्द तित्तरु। अगर इन फुहारों के डर से गाड़ी खड़ी कर दूँ तो कल जम्मू कौन पहुँचेगा, तुम्हारा बाप ?'

चूनी की बात सुनकर मित्तरु अपनी लोई के भीतर दुबक गया। गुस्से में उस्ताद कहीं इस ठंड में गाड़ी से ही न उतार दें। भयभीत मित्तरु ने चुप रहने में ही खैर समझी।

चूनी को अब रास्ता ठीक से न सुझाई दे रहा था। धीरे-धीरे पड़ती बरखा की बूंदें अब बर्फ की कनियाँ बनती जा रहीं थीं।

लोई में से आँखें निकालकर मित्तरु कभी चूनी को देखता कभी हैडलाइट की रोशनी में चमकती वर्फ़ की कनियों को। उसका भय बढ़ता ही जा रहा था।

'उस्ताद जी, बटोत पहुँच गए क्या ?'

'लगता तो ऐसा ही है।' चूनी ने सड़क पर नज़र जमाए हुए कहा। उस समय उसे छमकछल्लो के कोठे का भी ध्यान न था। ट्रक की रफ्तार उसने और तेज़ कर दी थी। वह चाहता था जितनी जल्दी हो सके पत्तनी टाप लाँघ जाएँ, वर्ना ऊपर पहुँचकर अटक भी सकते हैं।

अभी ट्रक डाक बँगले के पास ही था कि सड़क पर रोशनी की अजीब-सी झलक दिखाई दी। पहले तो वह कुछ न समझ सका, फिर उसने ग़ौर से देखा तो उसे लगा बैटरी जैसी रोशनी उसी की तरफ पड़ रही है। थोड़ा और आगे आने पर उसे दो-तीन सिपाहियों की वर्दियाँ साफ-साफ नज़र आने लगीं। उसने झट ब्रेक लगाकर गाड़ी रोक ली पर हैडलाइट नहीं बुझाई।

मित्तरु ने भी लोई से मुँह बाहर निकाला और आँखें फाड़-फाड़कर देखने का प्रयत्न करने लगा। पर तेज़ रोशनी में उसे बर्फ़ के सिवाय कुछ न दिखाई दिया।

चूनी बाहर निकला। बैटरी की रोशनी डालते हुए एक सिपाही ने उससे पूछा, 'इस समय कहाँ जा रहे हो ?'

'जम्मू।' चूनी बोला, 'सुबह तक वहाँ पहुँचना है।'

'गाड़ी में क्या लदा है ?'

'कुछ नहीं।'

'ठहरो, हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे।'

'आइए, बैठ जाइए।' चूनी ने उतावली में कहा।

'ठहरो, डाक बंगले से एक लाश भी ले जानी है।'

चूनी के नशे की पेंग अचानक टूट गई। सिपाहियों के आगे वह कुछ बोल पाता तो ज़रूर पूछता। कौन मरा ? कैसे मरा ? पर वह कुछ न पूछ सका। दो सिपाही डाक बँगले की तरफ चले गए। बैटरीवाला सिपाही वहीं खड़ा रहा।

बर्फ के छोटे-छोटे कण बरस रहे थे।

सिगरेट सुलगाकर चूनी ट्रक के पास आकर खड़ा हो गया। उसका मन हुआ कि सिपाही को कह दूँ कि अपनी गाड़ी में लाश न रखने दूँगा। ब्राह्मणों का ट्रक है। लाश पता नहीं कौन जात है। छूत समझकर मालिक चाहें तो ट्रक को छुएँ ही नहीं बल्कि बेच भी सकते हैं।

पर वह क्या करे। अगर इन्कार करता है तो सिपाही उसे जेल में भी डाल सकते हैं। ट्रक खुद चलाकर ले जा सकते हैं। पुलिस वालों का क्या भरोसा। अपनी ही दलीलों से तंग आकर वह ट्रक में अपनी सीट पर आकर बैठ गया। और उसने ट्रक की अगली बत्तियाँ बुझा दीं।

सड़क पर अँधेरा गहरा गया था । सिपाही ने अपनी बैटरी जला ली ।

मित्तरु धीरे से फुसफुसाया, 'उस्ताद जी, क्या बात है गाड़ी क्यों रोक दी ?'

'तू चुप रह । आज पता नहीं किसका मुँह देखा था । मुसीबत ही आ गई ।'

'उस्ताद जी, हुआ क्या ?'

'ट्रक में लाश ढोनी पड़ेगी ।'

'लाश ?' मित्तरु ने काँपते हुए पूछा । 'किसकी लाश है उस्ताद जी ?'

'तुम्हें पैदा करने वालों की । तुम्हें कितनी बार कहा चुप बैठो ।'

मित्तरु दुबक गया, पर मन में पैदा हुई हलचल से उसकी लोई का कसाव ढीला हो गया ।

चूनी ने जेब से शराब का पौआ निकाला और एक ही साँस में आधी बोतल गटागट पी गया । बोतल बन्द करके जेब के हवाले की । मफलर सिर पर अच्छी तरह लपेटकर वह बाहर आ गया । उसे अँधेरे में भी सिपाही दिखाई दे रहा था ।

'भाई जी,' चूनी ने सिपाही के करीब जाकर पूछा, 'कौन साहब हैं जिनका स्वर्गवास हुआ ?'

'थानेदार समेयाल साहब, कल ही एक मामले की तफ़तीश करने आए थे । बिल्कुल ठीकठाक थे । अभी एक घंटा पहले सबके साथ मिलकर खाना खाया । पता नहीं क्या हुआ कि खाना खाने के बाद बैठे-बैठे ही एक तरफ लुढ़क गए । लगता है, दिल का दौरा पड़ा होगा ।'

'बेचारे । उन्हें तो मैंने कई बार देखा है ।' ये शब्द चूनी ने महज औपचारिकतावश ही नहीं कहे थे । सचमुच कितनी ही बार समेयाल साहब से उसका आमना-सामना हो चुका था । लंबे, ऊँचे, तगड़े जिस्म के मालिक थे समेयाल साहब ।

'भाई जी, उनके घरवालों को तो खबर कर दी होगी ।'

'जम्मू थाने में फ़ोन कर दिया है, हमारे पहुँचने से पहले घरवालों को पता चल ही जाएगा ।'

'लाश के साथ आप में से कोई चलेगा न ?'

'कम से कम दो को तो चलना ही पड़ेगा ।'

'पर मेरे साथ एक सवारी है ।'

'ये नहीं हो सकता, सवारी को यहीं उतारना होगा ।'

तभी चूनी को क़दमों की आहट सुनाई दी । उसने ऊपर देखा । चार व्यक्ति चारपाई उठाए चले आ रहे थे । एक सिपाही बैटरी जलाकर आगे-आगे रास्ता दिखा रहा था । सिगरेट सुलगाते हुए चूनी ट्रक के पास आकर खड़ा हो गया । मित्तरु की तरफ का दरवाज़ा खोलकर वह बोला, 'मित्तरु नीचे आ जाओ, आज तुम्हें यहीं रहना पड़ेगा ।'

'ये क्या कह रहे हो उस्ताद जी ?'

'लाश के साथ दो सिपाहियों का जाना ज़रूरी है । तुम कल कोई और गाड़ी पकड़ लेना ।'

'मुझे जीते जी मत मारिए उस्ताद जी, अगर मैं कल जम्मू न पहुँच सका तो मेरी भी चिता जल जाएगी ।'

'मैं क्या करूँ ? बताओ, इन यमदूतों के आगे कोई मुँह खोल सकता है क्या ?'

'मैं आपके पाँव पड़ता हूँ, उस्ताद जी, इस लाश के लिए मेरे प्राण मत लो, ये कहर न

ढाओ, मैं मिन्नत करता हूँ ।'

सिपाहियों ने चारपाई ट्रक के पीछे लाकर नीचे रख दी। चूनी ने ऊपर चढ़कर ट्रक का पिछला फट्टा खोला। दो सिपाही ऊपर चढ़ गए, और नीचे खड़े दोनों सिपाहियों ने लाश वाली चारपाई दोनों तरफ से उठा ली। ऊपर वाले सिपाहियों ने बिस्तर समेत लाश ऊपर खींच ली। बैटरी की रोशनी में बिस्तर को सीधा करके सिपाहियों ने लाश को इस तरह रजाई में लपेट कर रखा जैसे लाश न होकर खुद समेयाल साहब हों।

'ट्रक ऊपर से ढँका होता तो कितना अच्छा होता।' एक सिपाही बोला।

'अब जो है, सो है, चलो चलें।' कहते-कहते दूसरा सिपाही भी ट्रक से नीचे उतर आया।

इस कार्यवाही के दौरान चूनी ने बोतल में बची बाक़ी शराब भी गटक ली थी।

उधर मित्तरु गुमसुम दुबका बैठा था। मानो कोई उसका कलेजा निकाल रहा हो। उसे लगा उसकी मृत्यु सिर पर मँडरा रही है। सिपाही की आवाज़ से उसकी चेतना लौटी।

'कौन हो तुम ?'

'ये रामबन से मेरे साथ आया है,'' चूनी ने आगे बढ़कर कहा, 'कल तक इसका जम्मू पहुँचना बहुत ज़रूरी है।'

'नहीं, नहीं, नीचे उतरो, तुम कल किसी दूसरी गाड़ी से शहर चले आना।' मित्तरु को दोनों सिपाही राक्षस लग रहे थे।

'हुजूर, रास्ते खराब हैं, कोई गाड़ी आ जा नहीं रही, अगर मैं कल जम्मू न पहुँच सका तो...'

'नहीं, नहीं, ये नहीं हो सकता। देख नहीं रहा हम किस मुश्किल में पड़े हुए हैं। चलो, उतरो, देर न करो।'

रुआंसा-सा मित्तरु नीचे उतर आया। मरता क्या न करता।

चूनी ने सिगरेट का आखिरी कश खींचा और टोटा बाहर फेंक, छलाँग लगाकर ड्राइवर की सीट में धँसकर बैठ गया। दोनों सिपाही भी बैठ गए। ठंड की वजह से गाड़ी स्टार्ट होने में कुछ देर लगी।

मित्तरु सिकुड़ा-दुबका सोच में डूबा हुआ था। उसने सोचा, 'मेरा भाग्य ही खोटा है। अच्छा-भला गर्माहट में सो रहा था कैसी शामत आयी ! इस समय बटोत की बर्फ़ से ढँकी सड़क पर अकेला खड़ा हूँ। अगर मर जाऊँ तो किसी को कानोंकान खबर न हो। अगर प्राण बच भी गए और कल तक जम्मू न पहुँच सका तो भी मिट्टी खराब। क्यों न हौसला करके जम्मू जाने का प्रयत्न किया जाए। मौत आनी होगी तो रास्ते में ही मर जाएँगे।'

उसी वक्त ट्रक स्टार्ट होकर उसके आगे से सरका। लोई उतारकर उसने ट्रक के फट्टे पर फेंकी और दौड़कर ट्रक के पीछे लटक गया। धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा और फट्टे के सहारे खड़ा हो गया।

नंगा ट्रक, वर्फ़ और जिस्म को वेधती हुई हवा। बर्फीली सुइयाँ चुभी जा रही थीं। फट्टा पकड़े-पकड़े मित्तरु बड़ी मुश्किल के साथ खड़ा रह पा रहा था। मोड़ आता तो ट्रक के साथ वो भी घूम जाता। अपना संतुलन रखना कठिन हो जाता। लोई का कसाव बार-बार ढीला हो रहा था। तेज़ हवा लोई के आर-पार हो रही थी।

अन्त में हारकर वह लाश के करीब जा बैठा। ट्रक के हिलने-डुलने के साथ-साथ जब समेयाल साहब का मृत शरीर भी हिलता तो मित्तरु सिहर जाता।

चूनी को रास्ता अब नाममात्र को ही दिखायी दे रहा था। वर्फ़ शीशे पर जमती जा रही थी। हाथ ठंड से जकड़े जा रहे थे। स्टेयरिंग पर हाथों का कसाव ढीला होता जा रहा था। आंखें फाड़-फाड़कर वो सड़क देखने का यत्न कर रहा था। गाड़ी की रफ़्तार एकदम कम हो गयी थी। पत्तनी टॉप अब भी दो किलोमीटर की दूरी पर था।

ट्रक के पीछे मित्तरु को अपना शरीर जमे हुए लहू का एक पिन्ड मात्र लग रहा था। हाथ, पाँव, मुँह, सिर जैसे हों ही नहीं। साँस लेने में भी यत्न करना पड़ रहा था। मुर्दे के साथ होने से मौत भी सामने दिखाई दे रही थी।

अचानक ट्रक का पहिया किसी गड्ढे में गिरा। इतनी ज़ोर का झटका लगा कि मित्तरु की मानो जान ही निकल गयी। लोई के साथ वह ट्रक में एक तरफ़ लुढ़क गया। उठने की हिम्मत न थी। हिलना भी दूभर था। उसकी चेतना लुप्त होने लगी। उसे लगा अब वह कभी भी उठकर न बैठ सकेगा। बर्फ़ की फुहियाँ उसके मुँह पर जमने लगीं।

बेहोशी में उसे लगा उसके एक हाथ की चेतना अचानक लौट आयी है। थोड़ी-सी गर्मी महसूस हुई। उसने हाथ हिलाने का यत्न किया।

एक और हाथ उसके हाथ में आ गया। जैसे बिजली का झटका लगा हो। वह झट उठकर बैठ गया। उसको लगा उसका एक हाथ रजाई के अन्दर लाश के हाथ के साथ जा लगा था। उसने घूरकर लाश की तरफ़ देखा। लाश पूरी तरह रजाई से ढँकी हुई थी। और रजाई के ऊपर थोड़ी-थोड़ी वर्फ़ जमनी शुरू हो गयी थी।

ट्रक अब आखिरी मोड़ मुड़ने के बाद पत्तनी टॉप पर पहुँचने वाला था। आसमान की काली स्याह चादर कालरात्रि की तरह चारों कोनों में तनी हुई थी। सड़क के दाएँ-वाएँ चीड़ व देवदार के वृक्ष भूतों की तरह खड़े थे। उनकी टहनियों पर बर्फ़ धीमे-धीमे गिर रही थी— जैसे मनुष्य के शरीर पर मौत अपनी परछाइयाँ डालती है।

मित्तरु ने लाश की रजाई की तरफ़ हाथ बढ़ाया और उस पर गिरी बर्फ़ झाड़ने लगा। पर उसका हाथ इतना अकड़ चुका था कि वह पूरी बर्फ़ न झाड़ सका। उसने रजाई अपनी तरफ खींची। उसमें वह पूरी तरह से कामयाब न हो सका। फिर उसने लकड़ी की तरह अकड़े हुए अपने हाथ रजाई में डालने चाहे जहाँ उसे थोड़ी देर पहले गर्माहट महसूस हुई थी।

उस समय उसकी आँखों में मुर्दा खाने वाली चीलें पंख फड़फड़ाती हुई घेरा डाल रही थीं।

ट्रक पत्तनी टॉप पार करके कुद्द की तरफ़ जा रहा था।

कुद्द लाँघते ही बर्फ़वारी बंद हो गयी। ऊधमपुर पहुँचते-पहुँचते पौ फटने लगी। झज्जर कोटली का पुल पार करके चूनी ने ट्रक एक तरफ़ खड़ा किया। तब दिन चढ़ आया था, पर बदली के कारण धूप न निकली थी। घुटी-घुटी आँखों से उसने सिपाहियों को देखा। एक अध-जगा था और दूसरा गहरी नींद में।

'मैं मुँह पर पानी के छींटे मारकर आता हूँ।' ये कहते-कहते चूनी पुल के नीचे उतर

गया । कुछ ही देर में दोनों सिपाही भी जंगल की तरफ चले गए ।

सारी रात जागने और खुमारी की वज़ह से चूनी की आँखें जल रही थीं । ठंडे पानी के छींटे पड़ते ही कुछ होश आया । कुल्ला करके वह ट्रक के पास आकर खड़ा हो गया । अचानक उसे ट्रक में पीछे रखी लाश का ख्याल आया और उसका मन खराब हो गया । उसने ज़ायका बदलने के लिए सिगरेट सुलगा ली ।

इतनी देर में सिपाही भी आ गए । चूनी कहने लगा, 'पीछे झाँककर देख लीजिए । अगर बर्फ़ ज़्यादा हो तो झाड़ लीजिए ।'

'चलो । बर्फ़ तो अब तक घुल गयी होगी । नहीं तो आगे चलकर घुल जाएगी ।' एक सिपाही बोला और जल्दी चलने की ताक़ीद करने लगा ।

चूनी ने ट्रक स्टार्ट कर दिया ।

जब ट्रक समेयाल साहब के घर के बाहर गली में खड़ा हुआ तो बहुत से लोग इकट्ठे हो गए थे । स्त्रियों के रोने-पीटने की आवाजें भी आ रही थी । विलाप करती स्त्रियाँ घर से बाहर निकलने लगीं । एक स्त्री पछाड़ें खा रही थी । कुछ स्त्रियाँ उसे पकड़ कर खड़ी कर रही थीं । चूनी ने सोचा, लाश लाकर उसने सचमुच एक नेक काम किया है । अपनी सीट से उतरकर वह ट्रक के पीछे आ गया । सिपाही भी साथ थे । जब उन्होंने घर के लोगों को आते देखा तो चूनी को ट्रक का पिछला फट्टा खोलने को कहा ।

चूनी ऊपर चढ़कर साँकल खोलने लगा, अचानक उसकी नज़र रजाई में से बाहर निकले चार पैरों पर पड़ी । उसके मुँह से चीख़ निकली और वह बेहोश होकर ट्रक से नीचे आ रहा ।

सभी हैरान होकर उसे देखने लगे । स्त्रियाँ रोना-पीटना भूल गईं । एक सिपाही ने बढ़-कर चूनी को हिलाया । चूनी ने आँख खोलते ही पूछा, 'लाश एक है या दो ?'

'लाश तो एक ही है ।'

'देखो ज़रा ।'

एक सिपाही डरता हुआ ट्रक पर चढ़ा । वह भी चार पैर देखते ही डर कर ट्रक से नीचे कूद आया । 'क्या बात है ?' दूसरे सिपाही ने पूछा ।

'चार पैर दिखाई दे रहे हैं । ज़रा फट्टा तो खोलो ।'

चूनी ने नीचे खड़े-खड़े ही बड़ी मुश्किल से फट्टा खोल दिया । अब साफ़-साफ़ चार पैर दिखाई दे रहे थे । जो भी आगे आता, डर कर काँपता हुआ पीछे हट जाता ।

अन्त में चूनी ने ही हिम्मत की । धीरे-धीरे आगे बढ़कर रजाई खींच कर एक तरफ़ फेंक दी । समेयाल साहब की लाश के साथ मित्तरु अचेत हुआ पड़ा था ।

समेयाल साहब की लाश घर वालों ने उठा ली । मित्तरु को चूनी वैसे ही ट्रक में डाल कर बड़े अस्पताल ले गया । काफी इलाज करके डाक्टर उसे होश में लाए । दोपहर तक वह बातें करने के क़ाबिल हो गया ।

चूनी ने पूछा, 'मूर्ख, तुम्हें लाश के साथ ही रज़ाई में सोते हुए डर नहीं लगा ।'

'लाश के साथ !' मित्तरु ने आँखें फाड़-फाड़ कर पूछा, 'ये आप क्या कह रहे हैं, उस्ताद जी ?'

'लो अब यह भी भूल गए ! जवाब नहीं तुम्हारा । मैंने बटोत में तुम्हें ट्रक से नीचे

उतार दिया था कि नहीं ? और तुम चोरी से ट्रक के पीछे चढ़ गए जहाँ लाश पड़ी थी। भई बीवी को मैके से लाने के लिए ऐसा जोखिम तुमसे पहले कभी किसी ने न उठाया होगा।'

बीवी का नाम सुनकर मित्तरु उठ कर बैठ गया 'उस्ताद जी, ये आप मुझे कहाँ ले आए, मुझे तो आज बश्नाह् पहुँचना है।'

'चुपचाप लेटे रहो, मित्तरु वल्द तित्तरु। डाक्टरों ने तुम्हें पूरे दो दिन तक आराम करने की हिदायत दी है।'

'भाड़ में जाएँ आपके डाक्टर।' कहते-२ मित्तरु चारपाई से उतर गया, 'कल तारा डूबने वाला है, अगर मैं आज भी बीवी को नहीं लाया, तब तो बेमौत ही मारा जाऊँगा।'

'ठहरो, मित्तरु मेरी बात तो सुनो !'

मित्तरु दरवाज़े के पास जाकर बोला, 'उस्ताद जी, तुम्हारी मिन्नतें करता हूँ मुझे पीछे से आवाज़ न दो। बीवी को लेने जा रहा हूँ। फिर कोई अपशकुन न हो जाए।' और वह अस्पताल से बाहर आ गया।

डोगरी से पद्मा सचदेव द्वारा अनूदित

आत्महत्या

□ आदवन सुंदरम

कोई दरवाज़ा खटखटा रहा था। रघु की दोपहर की नींद टूट गयी। उसने अपने चेहरे पर आए पसीने को पोंछा और घड़ी पर एक नजर डाली। पौने चार हुए थे।

दरवाज़ा फिर किसी ने खटखटाया। पर वह उठा नहीं। यह उसकी आदत थी। वह नींद खुलने के बाद कुछ देर लेटा-लेटा ही सोचा करता—बड़ी-बड़ी चीजों के बारे में। दरअसल उन क्षणों में दिमाग बिल्कुल ताजा रहता है।

खट्···खट्···खट्···खटखटाहट अब ज़रा ज़ोर-से और तेजी-से होने लगी थी। कौन हो सकता है? खैर, अलसाया-सा वह उठकर बैठ गया। हाथों को फैलाकर अँगड़ाई ली। उठकर दरवाजा खोला। अखिला थी। उसकी छोटी बहन।

'क्या सब मर गए ?' उसने अन्दर आते-आते कहा। वह मुस्कराकर रह गया। आजकल उसकी परीक्षाएँ चल रही थीं और वह और दिनों की अपेक्षा जल्दी घर आ रही थी। यह उसकी स्कूल की अंतिम परीक्षा थी।

वह गुसलखाने में गया। वहाँ से मुँह धोकर रसोई में घुस गया। अखिला और माँ बातें कर रहे थे। माँ कह रही थी, 'शिव, शिव, बेचारी लड़की ! कितना बुरा हुआ !!'

'कौन बेचारी ? क्या बुरा हुआ ?' रघु ने पूछा।

'मेरी क्लास की एक लड़की ने आत्महत्या कर ली।' अखिला ने बताया, 'उसने अपने

कपड़ों पर मिट्टी का तेल डालकर आग लगा ली।'

'अरे राम !' उसने अपने अंदर सनसनी दौड़ती महसूस की। उसने बहन से पूछा, 'उसने ऐसा क्यों किया ?' फिर एक के बाद एक कई सवाल तेजी-से पूछने लगा, जैसे वह यह दिखाना चाहता हो कि लड़की की मौत से वह बहुत प्रभावित है, 'क्या उसके पेपर खराब हो गए थे ?'

'नहीं, नहीं, उसकी सौतेली माँ उसे बहुत परेशान रखती थी। और बेचारी सहन न कर सकी !' अपनी बात को अच्छी तरह समझाने के लिए अखिला बताने लगी, 'बेचारी लड़की से इम्तहानों के दिनों में भी घर का पूरा काम कराया जाता था। पढ़ने को तो बेचारी को ज़रा भी समय न मिलता। जब भी वह ज़रा पढ़ने के लिए बैठती उसकी सौतेली माँ कोई न कोई काम उस पर थोप देती। ऐसा लगता था जैसे उसे पढ़ाई से ही कोई दुश्मनी हो। असल में तो उसकी सौतेली माँ यह भी नहीं चाहती थी कि वह स्कूल जाए। अक्सर उसे डाँटती, 'अरी कम्बख्त, तू जलकर मर क्यों नहीं जाती।' और कल सुबह आखिर उसने गुसलखाने को अंदर से बंद करके अपने को आग लगा दी। जब लोगों ने गुसलखाने से धुआँ उठता देखा तो दरवाजा तोड़कर अंदर घुस आए। उसे जल्दी से अस्पताल पहुँचाया। पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी...' अखिला बताती जा रही थी।

माँ ने डोसे का मिश्रण तवे पर डाला। उसमें से सूँ-सूँ की की आवाज़ें निकलने लगी। क्या यह डोसे का मिश्रण भी आँच का विरोध कर रहा है ? तो फिर वह लड़की...! जब उसके बाल, आँखें, नाखून तथा शरीर के और अंग जलते होंगे तो उसे कैसा महसूस होता होगा ? और अखिला बता रही है कि लड़की चिल्लायी भी नहीं। एक हल्की-सी झुरझुरी उसके शरीर में दौड़ गयी।

वह सिर्फ दो डोसे ही खा सका।

माँ ने रघु से स्टोव बुझाने के लिए कहा। बत्तियों वाला स्टोव था। उसने आँच कम करके फूँक मार दी। मिट्टी के तेल की तेज़ गंध कमरे में फैल गयी। यह गंध अप्रिय लग रही थी। और उस लड़की ने तो अपने ऊपर मिट्टी का तेल डाल दिया था।

वह बड़े कमरे में आया। पड़ोसियों के रेडियो से उसके प्रिय गाने की आवाज़ आ रही थी। क्या उस लड़की ने यह गाना सुना होगा। उसने जल्दी से कपड़े पहने और बिना किसी उत्साह के बाहर निकल आया।

दिन की गर्मी और चमक दोनों फीके पड़ गए थे और उमस-सी फैल गयी थी। उसने आकाश की तरफ देखा, उसे पश्चिम की ओर डूबता सूरज दिखायी दिया और उसके नीचे किरमिची बादल। तरह-तरह के पक्षी झुंड बनाकर अपने घरों की ओर लौट रहे थे, जैसे हवाई जहाज किसी फॉरमेशन में उड़ रहे हों। रघु चलने लगा। मार्च का आखिरी हफ्ता था। पेड़ों के पत्ते झड़ रहे थे और सड़कों व पटरियों पर झड़े हुए पत्तों का एक गलीचा-सा बिछ गया था। अगर पुरानी सूखी हुई पत्तियाँ झड़ें तो कोई बात नहीं, लेकिन एक हरी पत्ती क्यों तोड़ी जाए ? एक खिलती हुई कली...

'क्यों, ऐसा क्यों ?'

प्रेमी-युगल बाँहों में बाँहें डाले चले जा रहे थे। हाँ, इसी दुनिया में ये भी हैं। आइसक्रीम खाती लड़कियों का एक झुंड चला जा रहा था। एक बूढ़ा अपने पोते को उँगली पकड़ाकर उसके चलते हुए नन्हें कदमों को गर्व और वात्सल्य से देख रहा था। रघु चलता रहा। रास्ते में दिखने

वाली हर चीज उसमें विरक्ति भरती जा रही थी। 'यह एक घिनौना और क्रूर संसार है !' उसने सोचा, 'हर आदमी अपनी एक निजी, छोटी-सी दुनिया में खोया हुआ है। उसकी अपनी खुशियाँ हैं और अपने दुख। किसी को किसी की फिक्र नहीं है !'

एक लड़की...

एक छोटी, प्यारी लड़की, जिसने खुद को आग लगा दी, उसके जीवन का उद्देश्य क्या था ? हे भगवान् ! यह सब क्या है ?

रघु कॉफी हाउस में घुसा। भीड़ भरी मेजों से गुजरता हुआ वह अपने दोस्त कृष्णन की खाली मेज के पास जाकर रुका। पास रखी हुई खाली कुर्सी पर बैठता हुआ बोला, 'हेलो, काफी देर से इंतज़ार कर रहे थे ?'

'नहीं, अभी आया हूँ। और लोग नहीं आए ?'

'आ रहे होंगे' रघु ने कहा। उसने चारों ओर देखा। वही चिरपरिचित चेहरे, क्या मुसीबत है ! लोगों को कभी-कभी अपने चेहरे भी बदल लेने चाहिए, जैसे वे कपड़े बदलते हैं। तब संभवत: जीवन ज्यादा दिलचस्प और किसी लायक हो जाएगा। उसने हाथों में खाली या भरी हुई ट्रे ले जाते बैरों की ओर देखा। एक दिन के लिए उसे उनके साथ जगह बदल लेनी चाहिए...देखें कैसा रहे ?

'चुप क्यों हो ?' कृष्णन ने पूछा।

'बात करने के लिए कुछ है भी नहीं !'

'उधर देखो, चंद्रा और भास्कर भी आ रहे हैं।' वे दोनों आकर उनके पास बैठ गए।

'तुम दोनों देरी से आ रहे हो।' कृष्णन ने कहा।

'महत्वपूर्ण लोग हमेशा ही देरी से आते हैं।'

'और यह भी बुरा नहीं है कि कॉफी हाउस में बरबाद होने वाला समय भी कम से कम हो जाए।' चंद्रा ने कहा।

'ज्यादा से ज्यादा क्यों नहीं ?'

'एक समृद्ध समाज के लोगों में रेस्तराओं में आराम करने और घंटों बात करते रहने की सामर्थ्य होती है। लेकिन क्या हम भी ऐसा कर सकते हैं ?'

'हियर...हियर...अब कोई जवाब दो !'

रघु ऊबा हुआ-सा चेहरा लिये उनकी बात सुन रहा था।

'रघु बच्चा आज चुप है !' भास्कर ने उसकी तरफ घूमते हुए कहा।

'मैं समृद्ध समाज का आदमी नहीं हूँ।' पलक को हल्के से झपकाते हुए रघु बोला।

रघु उनमें सबसे छोटा था। कुछ समय पहले उसने इंजीनियरिंग में डिग्री ली थी। पर उसे अभी तक कोई काम नहीं मिला था। उसे एक अच्छी नौकरी का इंतज़ार था और उसके पिता को भी।

'अवसर चाहिए...एक युवा इंजीनियरिंग ग्रेजुएट को सुअवसर की तलाश है। प्रारंभिक वेतन—एक हजार रुपये। सुंदर, लंबा, अच्छे व्यक्तित्व वाला, जो ऑफिस को सौंदर्य और जीवन दोनों देगा। महिला स्टेनो वाली फ़र्म ही पत्र-व्यवहार करे—यूरोपियन को वरीयता।'

'यूरोपियन फर्म या यूरोपियन स्टेनो ?'

'इसका फैसला रघु करेगा।'

'मुझ ज्यादा ग़लतफ़हमी नहीं है।' रघु ने कहा।

तभी वेटर आ गया और उन्होंने आर्डर दे दिए। भास्कर ने जेब से सिगरेट का पैकेट निकाल लिया।

'हैल्प युवरसैल्फ, जेंटलमैन।'

सभी ने सिगरेट ले लीं। भास्कर ने एक तीली घिसकर उसे बीच में किया। सभी एक-एक करके झुके और उस जलती हुई तीली से अपनी-अपनी सिगरेट सुलगायी। जलती हुई माचिस की तीली...

रघु को अचानक उस लड़की की याद आ गयी, जिसने खुद को आग लगा दी थी। एक बेचैनी ने उसे घेर लिया। उसने सिगरेट अपने मुँह से निकाल ली।

'ए, ए, क्या हुआ ?'

'मैं नहीं पियूँगा।'

'क्यों ?'

'इच्छा नहीं हो रही है।'

'सच कह रहे हो ?'

'हाँ।'

'यह अचानक क्या हो गया ?'

'.........'

'छोड़ो यार, अच्छे बच्चे बनो और सिगरेट सुलगाओ।'

'प्लीज भास्कर, इच्छा नहीं हो रही है। सच कह रहा हूँ।'

जलती हुई माचिस की तीली उसकी उँगली तक आ गयी थी। भास्कर ने जल्दी से अपनी सिगरेट सुलगाकर तीली जमीन पर फेंक दी और अपनी उँगलियाँ झटकने लगा। यह तो उँगली पर जरा-सी आँच सहन नहीं कर सका और वह लड़की...

उस लड़की के बारे में बताने की उसकी इच्छा हुई। वेटर चार कप गर्म-गर्म कॉफी ले आया और सफाई के साथ उन्हें मेज पर रख दिया।

'कल एक भयानक घटना घटी।' रघु ने कहना शुरू किया। वह अपने को अधिक जज़्ब न कर सका। वह अपना बोझ उतार देना चाहता था। वह आगे बताने लगा, 'मेरी बहन की क्लास में पढ़ने वाली एक लड़की ने आत्महत्या कर ली।' और फिर वह विस्तार से वह सब बताने लगा जो उसने अपनी बहन से सुना था।

वह बहुत भावुक हो गया था। उसकी आवाज़ कभी उठती, कभी गिरती और कभी टूट जाती। वह खुद ही वह लड़की हो गया था जो कष्ट और अपमान में जी रही थी। घर के काम में जुटी हुई, गालियाँ खाती हुई, जिसे पढ़ने तक की आज़ादी नहीं थी। और फिर आज़ादी, बचाव...हाँ, यह सब वह स्पष्ट देख रहा था।

पर दोस्तों के शांत और भावहीन चेहरों ने उसे बहुत निराश किया। उस लड़की की मौत से वे जरा भी प्रभावित नहीं हुए ! हो सकता है उसके कहने के ढंग में वह प्रभाव न हो।

'...यह कहानी है उस अभागी लड़की की मौत की !' रघु ने अपनी बात खत्म करते हुए कहा।

सब चुप थे। कुछ देर के लिए एक बेचैन कर देने वाला सन्नाटा छाया रहा। सभी मान

रहे थे कि वह दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। पर यह भी स्पष्ट था कि उन्हें उस समय उसका यह जिक्र छेड़ना अच्छा नहीं लगा। शाम का मज़ा ही खराब हो गया था। वे शायद कहना चाहते थे— 'यह दुनिया ही दुख और कष्टों से भरी है। इसमें तुम और हम क्या कर सकते हैं ?'

'मैं उस लड़की की तारीफ़ करता हूँ', रघु ने कहा, 'मैं उन सभी लोगों की तारीफ़ करता हूँ जो आत्महत्या करते हैं...उनकी भावनाएँ शुद्ध और तीव्र होती हैं...क्या नहीं ?'

'यह सिर्फ कायरता है।' कृष्णन ने कहा।

'हम इतना कहकर ही बात खत्म नहीं कर सकते।' भास्कर ने कहा, 'कई ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं, जब किसी व्यक्ति की आत्महत्या उसकी महान् अंतर्शक्ति, आत्मसम्मान और विवेक को दर्शाती है। हो सकता है कि अपने विश्वास या पसंद को सिद्ध करने का उसके सामने इसके अलावा कोई रास्ता ही न बचा हो। बेयरमेन की एक फिल्म में एक चरित्र है...'

भास्कर कहता रहा। वह फिल्म का अच्छा जानकार था। उसके जीवन की एक महान् इच्छा फिल्म डायरेक्टर बनने की थी। भले ही दुर्भाग्य से उसके दिन एक गुमनाम-सी ट्रेवल एजेंसी में कट रहे थे। रघु सोच रहा था कि सिनेजगत् का यह कितना बड़ा नुकसान है।

'मैं भास्कर से सहमत हूँ', चंद्रन ने कहा, 'आज वरैनीना या एमा बोवेरी की आत्म-हत्याएँ हमें दुखी अवश्य करती हैं पर हम निराश नहीं होते। उनके मामले में आत्महत्या एक पूर्ण संवाद होती है। उनके दुखभरे जीवन का एक सुखद अंत। हेमिंग्वे का आत्महत्या करना कितना उपयुक्त कदम था। इस युग की हिंसा और निरर्थकता, जो उसके लेखन में दिखती है, जैसे उसे मृत्यु के माध्यम से घर ले गयी हो।'

बड़े-बड़े शब्द, बड़ी-बड़ी बहसें, चंद्रन सौतेली माँ का पक्ष ले रहा था कि पिता को दोषी ठहराया जाना चाहिए। उसने बच्ची के साथ वैसा व्यवहार क्यों होने दिया ? साफ है कि उसे अपनी लड़की के बजाय बीवी की ज्यादा ज़रूरत थी...हाँ...हाँ...! जहाँ तक सौतेली माँ का सवाल है, वह भी जवान होगी, मैं समझता हूँ और वह जानती होगी कि किन मजबूरियों ने उसे अपने से बहुत ज्यादा उम्र वाले बूढ़े से विवाह करने को बाध्य किया। कितनी इच्छाओं और सपनों की बलि उसे इस विवाह पर चढ़ा देनी पड़ी होगी।'

कॉफी का सिप लेते हुए चंद्रन बोला, 'एक क्रूर सौतेली माँ को एक विशेष सामाजिक पर्यावरण के सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिए...'

एक समय था जब चंद्रन बहुत कम बोलता था। अपने लेखन को लेकर चिंतित था। पर बाद में कहीं न छप पाने की निराशा ने उसकी उद्धत एकांतिकता को अस्त-व्यस्त कर डाला था और उसे आश्चर्यजनक रूप से बातूनी बना दिया था।

रघु चुप हो गया था। उनसे बात करने का कोई फायदा नहीं था। उसने खुद से ही सवाल पूछा, 'क्या कभी वह लड़की ऐसे किसी रेस्तराँ में आयी होगी ?'

रात खाना खाने के बाद वह फिर अपनी बहन से कह रहा था, 'एग़जामिनेशन हॉल में उस लड़की की कुर्सी तो आज खाली ही रही होगी ?'

'नहीं, उन्होंने उसकी कुर्सी हटा दी थी और क्रम बदल दिया था।' अखिला ने बताया।

रघु चुप हो गया था। यही उसने सोचा था। यह दुनिया उस लड़की के बिना भी चलती रहेगी जो कुछ समय के लिए जीवित थी और अचानक जीवित रहने में असफल हो गयी। सभी संबद्ध रजिस्टरों पर उसके नाम के ऊपर लाल लकीर फेर दी जाएगी...यही सबूत रहेगा कि इस तरह की लड़की कभी जीवित थी। अखिला कॉलेज जायेगी, डिग्री लेगी। कन्वोकेशन गाउन में फोटो खिचवायेगी। फिर एक दिन उसका फोटो दुल्हन के रूप में खिंचेगा। विवाह, पति, बच्चे...और बेचारी वह लड़की यह सब देखे या अनुभव किये बिना ही मर गयी !

'लेकिन मैं उसकी मौत से इतना परेशान क्यों हूँ ?' उसने सोचा। वह अपने दोस्तों की तरह ऐसी बातों से अविचलित या अप्रभावित क्यों नहीं रहता !

संभवतः बेकार रहने के कारण उसके पास सोचने और चीजों को महसूस करने के लिए काफी समय है। एक बार उसे नौकरी मिल जाए...और फिर वह उन सभी देशों के बारे में सोचने लगा जिन्होंने समय-समय पर उसे आकर्षित किया। जब वह पाँच साल का था तो किसी भी बच्चे की तरह ड्राइवर बनना चाहता था। जब वह दस साल का हुआ तो उसकी इच्छा अपने चाचा की तरह बढ़िया मूँछें और कड़क वर्दी पहने सेना में कैप्टन बनने की हुई। पंद्रह साल की उम्र में पड़ोस का आर्टिस्ट उस पर छाया रहा। वह अक्सर उसके पास जाता और अपने बनाए चित्र उसे दिखाता। रघु की इच्छा आर्ट स्कूल में भर्ती होने की हुई, ताकि वह आर्टिस्ट बन सके। पर उसके पिता को चित्रकारी में कोई विश्वास न था। उन्हें सारे आर्टिस्ट मूर्ख और आवारा लगते। वे नहीं चाहते थे कि उनका बेटा भी ऐसा बेकार और घटिया पेशा अपनाकर अनुशासनहीन जीवन जिये।

'यह मेरे पिता की कृपा है कि अब मैं इन्जीनियर बनूँगा।' रघु ने सोचा, 'यह मेरे लिए फायदे की बात है या नुकसान की ?' कुछ साल पहले तक रघु का दिमाग कई तरह की भावनाओं और विचारों का उद्गम स्थल बना रहा। अप्रतिम सौंदर्य के बिंब उसकी आँखों के आगे नाचा करते और उसमें अपार उत्साह भर देते। उसके अन्दर उनको कैनवास पर उतारकर अपना बोझ हल्का करने की तीव्र इच्छा होती। पर अब वह इच्छा कहीं खो गयी है। सिर्फ अनुभूति रह गयी है। संभवतः कुछ साल बाद यह अनुभूति भी समाप्त हो जायेगी। तब किसी लड़की की आत्महत्या उसे इतना प्रभावित नहीं कर पाएगी। उसकी अनुभूति की तीव्र धार कुंद हो जायेगी जैसे उसके दोस्तों की हो गयी है।

क्या यह एक तरह की आत्महत्या नहीं है ?

अचानक रघु को अपने दिल में तेज दर्द उठता महसूस हुआ—जैसे कोई उसके दिल को चीर रहा हो...जैसे कई भारी हथौड़े लगातार उसके सिर पर चोट करते हुए उसे पीसे दे रहे हों। वह अन्धेरे की ओर भाग जाना चाहता था, एक खुलेपन की तलाश में, जहाँ वह चिल्ला सके...चिल्लाकर अपने अपराध और शर्म को प्रकट कर सके...हाँ, यह भी एक आत्महत्या ही होगी।

तमिष से सुषमा द्वारा अनूदित

युग-संधि

□ डी० जयकान्तन

गौरी दादी बहुत देर तक धीरज बाँधे बस में खड़ी रहीं। सभी लोगों के उतर जाने के बाद खाकी रंग का भारी थैला कमर पर लादे हुए सबसे बाद में वे उतरीं। गाड़ीवाले और कुलियों के बच्चे उन्हें घेरकर खड़े हो गए। 'दादी जी !...दादी जी ! थैला मैं उठा लूंगा। एक आना दे देना दादी।'

'माताजी ! गाड़ी चाहिए ?'

'पुदुपालैयम के वकील के क्लर्क के घर जाना है न—आइए ले चलता हूँ'—इस तरह वे उनका स्वागत कर रहे थे और उन्हें बस से उतरने भी नहीं दे रहे थे। उन लोगों को देख दादी मुस्कराई और बोलीं, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए। ज़रा-सा रास्ता दे दो, मैं धीरे-धीरे पैदल ही चली जाऊँगी—क्यों भई तुम लोगों ने मेरा घर तक जान लिया है—मैं महीने में एक बार यहाँ आती हूँ, भला बताओ कब तुम्हारी गाड़ी में बैठकर घर गई हूँ ?' इस प्रकार तरह-तरह के प्रश्नों का उत्तर देती हुई, सबको हटाकर रास्ता बनाती हुई दादी आगे बढ़ीं। सिर के पल्ले को ठीककर, कमर पर बोझ लादकर, भयानक गर्मी से तपती हुई धरती पर पैरों को जमा-जमाकर रखती हुई, एक ओर झुक-झुककर दादी चलने लगीं।

दादी की उम्र सत्तर साल की थी लेकिन उनके शरीर में काफ़ी ताक़त थी। बुढ़ापे के कारण शरीर कुछ फूल-सा गया था। मोटापे की वजह से होने वाली थकान का पता तो घर

पहुँचकर ही लग सकता था। कल उनकी नज़र में जो बच्चे थे वे ही आज रिक्शा, ताँगा, साइकिल आदि पर सवार होकर भागे चले जा रहे थे। बरसात और धूप से बचकर भागते हुए लोगों के बारे में सोचकर दादी मन ही मन हँसने लगीं।

उन्होंने इन सब बातों की परवाह कब की थी ? जल की धारा के समान सहज गति से बहता हुआ उनका जीवन एकाएक रेगिस्तान में बदल गया। पीड़ा और कष्ट की आग में जलते हुए भी जो धीरज बाँधे रहीं उनका ये धूप और बरसात क्या बिगाड़ सकते हैं ? यदि ये कुछ कर भी लें तो उन्हें इसकी क्या चिन्ता ?

दादी दहकती हुई धरती पर पैरों को जमा-जमाकर रखती हुई, हिल-हिलकर चल रही थीं। रास्ते में सड़क के किनारे नीम का एक छोटा-सा पेड़ था जो चार-पाँच आदमियों को छाया दे सकता था। दादी उस पेड़ के नीचे थोड़ी देर के लिए रुकीं। उस भयानक गर्मी में सुख देने के लिए फैली पेड़ की छाँह की तरह, यंत्रों पर निर्भर बीसवीं शताब्दी के लोगों के बीच पिछली शताब्दी के प्रतिनिधि के रूप में खड़ी उस आत्मनिर्भर, दुर्लभ-दर्शन वृद्धा की प्रसन्नता की तरह धीमी-धीमी गति से चलती हुई ठण्डी हवा में नीम की टहनियाँ हिलने लगीं। 'जय महादेव !' कहकर ईश्वर को धन्यवाद देते हुए दादी ने ठण्डी हवा के स्पर्श का आनन्द लिया।

दादी के आँचल से ढके चेहरे पर बच्चों जैसा भोलापन था। इस उम्र में भी हँसते हुए उनके सुन्दर दाँतों का दिखलाई देना बड़े आश्चर्य की बात थी। उनकी ठोड़ी के बाँएँ हिस्से पर काली मिर्च के बराबर सुन्दर-सा काला मस्सा था। उस पर दो बाल उगे हुए थे। इन सबको एक नज़र देखकर कोई भी यह सोचे बिना नहीं रह सकता था कि युवावस्था में उनका रूप कैसा रहा होगा।

दादी का रंग तपे हुए सोने के समान था। लगभग वैसे ही रंग की रेशमी साड़ी वे पहने हुई थीं जो कि हवा में लहरा रही थी। घुटे हुए सिर पर बाल बढ़ चले थे। वे सिर पर पड़े आँचल से बाहर झाँक रहे थे। गले में स्फटिक मणि की माला थी। माथे पर लगी विभूति पसीने से कुछ फैल गयी थी। उन्होंने साड़ी के पल्ले से हाथों को, चेहरे और छाती को अच्छी तरह पोंछा। पीठ पर से पल्ले के हटते ही वहाँ मूँगे की तरह लाल-से रंग का एक मस्सा दिखलाई दिया।

वे छाँह से निकलकर फिर से धूप में आ गईं। मिट्टी से भरे रास्ते को पार कर केडिल नदी के ऊपर बने पुल के कांक्रीट के तपते फर्श पर हल्के-हल्के पाँव रखती हुई वे धीरे-धीरे चलने लगीं। उसी समय पुल के एक किनारे मुँडेर से सटकर खड़े हुए उनकी जान पहचान के एक नाई ने लोहे की छोटी पेटी सहित अपना हाथ ऊँचा उठाकर उन्हें प्रणाम किया। वह इस डर से सिकुड़ा-सिमटा खड़ा था कि कहीं दादी अम्मा से उसका शरीर न छू जाय। उसने बड़े प्रेम से पूछा, 'दादी माँ ! नैवेली से आ रही हो न ?'

'अरे वेलायुदम तुम !' कहकर आश्चर्य प्रकट कर वृद्धा ने बड़ी आत्मीयता से पूछा, 'तुम्हारी घरवाली के बच्चा हो गया ?'

'हाँ...लड़का हुआ है।'

'परमात्मा उसे सुखी रखे...यह सब भगवान की लीला है। यह तेरा तीसरा लड़का है न ?'

'जी हाँ' कहकर वेलायुदम जी भरकर हँसा।

'तू बड़ी किस्मत वाला है। जैसे-तैसे मेहनत करके बच्चों को पढ़ा-लिखा दे, समझा ?'

दादी की बात सुनकर वेलायुदम हँसते हुए सिर खुजलाने लगा।

'अरे बुद्धू ! हँस क्यों रहा है। ज़माना बदल रहा है। तेरी और तेरे बाप की उम्र तो कैंची, उस्तरा, हजामत के सामान वाली यह पेटी उठाते-उठाते बीत गई। अब ऐसा नहीं हो सकता। आज पुरुष लोग बाल कटवाने 'सैलून' जाते हैं। आगे चलकर विधवा औरतें मेरी तरह ज़िन्दगी नहीं बिताएगीं, इसका एहसास मुझे अभी से हो रहा है। जो कुछ हो रहा है वह ठीक ही है। समय के बदलने के साथ-साथ हम लोगों को भी बदलना चाहिए। मेरी बात समझ रहे हो न !' कहकर दादी इस तरह हँसी मानो उन्होंने कोई भारी हँसी की बात कह दी हो। उत्तर में नाई भी हँस दिया।

'कड़ी धूप है, ले इसे खा ले' कहकर उन्होंने कमर पर लादे हुए थैले में से झाँकती हुई दो मुलायम-मुलायम ककड़ियाँ निकालकर उसके बढ़े हुए हाथ पर रख दीं। 'बस में एक आदमी एक आने की चार के हिसाब से बेच रहा था। बच्चों को देने के लिए मैंने चार आने की खरीद लीं।' उनकी बात पूरी होते ही वेलायुदम ने फिर एक बार उन्हें प्रणाम किया। उनके वहाँ से कुछ दूर चले जाने तक वह वहीं खड़ा रहा और फिर अपने रास्ते चल दिया।

गौरी दादी का जन्म और पालन-पोषण चिदम्बरम में हुआ था। दस साल की उम्र में उनका विवाह कडलूर के एक अमीर परिवार में हुआ। सोलह साल की उम्र में एक पुत्र की माँ बनकर वे विधवा हो गईं। उसके बाद आज तक वे अपने पुत्र और अपने पति की ओर से धरोहर के रूप में मिले मकान को छोड़कर कहीं नहीं गईं।

उनके इकलौते बेटे की सबसे बड़ी लड़की गीता विवाह के दस महीने बाद ही विधवा हो गई। नाटक खेलने के बाद जैसे अभिनेता अपनी कृत्रिम वेशभूषा उतारकर रख देते हैं उसी तरह गीता ने अपने सुहाग की चीज़ों को उतारकर रख दिया। अपने परिवार के लोगों को दुःख के अपार सागर में डुबाकर रोती-कलपती गीता गौरी दादी की गोद में आ गिरी। उन्होंने इसे अपने जीवन की अन्तिम दुःखद घटना समझा और उसे पूरी तरह सहारा दिया। उन्हें लगा कि उसे अपने संरक्षण में रखना, स्नेह और ममत्व से बाँधे रखना, अपनी आँखों में बैठा लेना उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। अब तक दादी ने गीता को अपनी पोती के रूप में ही प्यार किया था। पति की मृत्यु के बाद पुत्र पर जान देने वाली वह माँ अब पोती पर जान देने लगी। गीता को धीरज बँधाने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया था। गौरी दादी को गीता में स्वयं अपनी प्रतिच्छाया दिखलाई दी।

दादी के पुत्र गणेश अय्यर अपने पिता की मृत्यु के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। उन्होंने उस दुःखद घटना से उत्पन्न भयंकर दुःख का अनुभव भी नहीं किया था। वे अपनी माँ के 'आज्ञाकारी पुत्र' बने रहे। इसी से उनकी पत्नी यदा-कदा अवसर मिलने पर सांकेतिक ढंग से उन्हें चिढ़ाया करती थी। अपनी विधवा बेटी के भविष्य के बारे में काफी देर तक सोच-विचार करने के बाद उन्होंने हाई स्कूल पास गीता को 'टीचर्स ट्रेनिंग' कराने का निश्चय किया। जब उन्होंने हिचकते-हिचकते माँ से इस बात के लिए अनुमति माँगी तो उन्होंने बड़ी खुशी से उनकी बात मानने के साथ-साथ उनके निश्चय की तारीफ़ भी की। उस समय गणेश अय्यर को लगा कि अपनी माँ का सही मूल्य आँकना उनके लिए अब असम्भव हो गया है।

गीता नए युग की संतान थी। उसके सुखी भावी जीवन की कल्पना कर दादी माँ मन ही मन बहुत प्रसन्न हुईं।

ट्रेनिंग पूरी करके काफी समय तक गीता ने अपने ही शहर में नौकरी की। पिछले साल एक नए और तेजी से विकसित होते हुए औद्योगिक नगर नैवेली में गीता की बदली की बात सुनकर गणेश अय्यर किंकर्तव्यविमूढ़-से हो गए।

दादी बोली, 'अरे इसमें घबराने की कौन-सी बात है, मैं उसके साथ जाकर रह लूँगी।' दादी माँ बुढ़ापे में अपने लाडले बेटे और उसके परिवार को छोड़कर जाने के लिए तैयार हो गईं क्योंकि उन्हें डर था कि ऐसा न करने से तीस से भी कम उम्र वाली गीता वैधव्य के अन्धेरे गड्ढे में गिर जायेगी।

इस एक वर्ष के बीच लम्बी छुट्टियों में दोनों ही यहाँ रहकर गईं थीं। वैसे सप्ताह के अन्त में शनिवार और रविवार को दादी अपनी इच्छा से यहाँ आ जाया करती थीं। उनके यहाँ अक्सर आने का एक कारण यह भी था कि वे अपने परिचित नाई वेलायुदम से ही सिर घुटाया करती थीं। वेलायुदम से पहले उसके पिता यह काम करते थे। उन्हें किसी और से बाल कटवाना अच्छा नहीं लगता था।

आज घर आते हुए उनकी भेंट वेलायुदम से हो गई थी। दादी जानती थीं कि वह कल सुबह अवश्य ही उनके घर आ खड़ा होगा। वेलायुदम भी जानता था कि उसे अगले दिन उनके घर अवश्य पहुँच जाना चाहिए क्योंकि यही हमेशा का क्रम था।

पैदल चलते हुए भी लगभग एक मील की दूरी को आधे घंटे में तय करने के बाद जब दादी घर पहुँचीं तब गणेश अय्यर दैनिक समाचार पत्र से मुँह ढाँपकर आराम कुर्सी पर पड़े सो रहे थे। पास में बैठी उनकी बहू पार्वती चश्मे को नाक पर टिकाकर सूप में पड़ी उड़द की दाल में से कंकड़ बीन रही थी। उसके पास में एक टीन खुला पड़ा था। धूप से बचाव के लिए सींकचे लगे बरामदे में पर्दा टाँगा गया था। बरामदे के एक कोने में छोटे-छोटे खिलौने बिखरे पड़े थे। अपनी अटपटी भाषा में अपने आप से कुछ कहती हुई और गुनगुनाती हुई उनकी सबसे छोटी पोती जाना, जिसकी उम्र छः साल के लगभग थी, गृहस्थी का खेल खेल रही थी।

किसी को भी दादी के आने की ख़बर नहीं हुई। दादी ने जालीदार किवाड़ की चिटखनी को धीरे से हिलाया। उस धीमी आवाज़ को सुनते ही अपने खेल में डूबी जाना चौंकी और उसने पीछे मुड़कर देखा। प्यार भरे स्वर में वह चिल्ला उठी 'दादी माँ!' उसकी आँखें फैल गईं और चेहरा खिल उठा।

'बच्ची, दरवाज़ा खोल' दादी के इन शब्दों को सुना अनसुना कर जाना 'अम्मा! अम्मा! दादी आई हैं, अम्मा दादी आई हैं!' कहती हुई भीतर की ओर दौड़ी। दरवाज़ा खोले बिना ही अपनी माँ को उनके आने की सूचना देने के लिए तेजी से घर के भीतर दौड़ती हुई उस बच्ची को देखकर दादी हँस दीं।

गणेश अय्यर ने चेहरे पर पड़े समाचारपत्र को हटाकर अपनी आँखें खोलीं। बच्ची की चिल्लाहट सुनकर अचानक जाग जाने के कारण उनकी आँखें लाल हो गई थीं। वे कभी खुलती और कभी बन्द हो जाती थीं। वे कुछ देर तक चकित से इधर-उधर देखते रहे। इतने में ही 'अरी पगली। इस तरह चीखती, चिल्लाती हुई क्यों भागी चली आ रही है' कहकर बच्ची को डाँटते

हुए उनकी पत्नी पार्वती भीतर से निकली। दूर से दादी को देखते ही वह बड़े प्रेम से बोली, 'आइए, आप इतनी धूप में पैदल चलकर आई हैं...गाड़ी क्यों नहीं ले ली ?' और उसने दौड़कर आकर दरवाज़ा खोला।

'ज़रा सी दूर के लिए गाड़ी-वाड़ी की क्या जरूरत है। वह यूं ही आठ-दस आने ले लेता' तनिक खीझ भरे स्वर में इस तरह उत्तर देकर दादी आगे बढ़ीं। सीढ़ियाँ चढ़कर अन्दर आती हुई अपनी माँ को देखते ही गणेश अय्यर आराम कुर्सी से उठकर खड़े हुए। 'माँ कड़ी धूप में आयी हैं...पार्वती इन्हें मट्ठा लाकर दे' कहकर उन्होंने माँ का स्वागत किया।

'तू बेचारा गहरी नींद सो रहा था...चाहे तो थोड़ी देर और सो जा' कहकर दादी ने बेटे को थपकी दी। आराम कुर्सी के पास पड़े स्टूल पर थैला रखकर उन्होंने आँगन में रखे टब के पानी से हाथ-पैर, मुँह धोया और सिर पर थोड़ा-सा पानी छिड़क लिया। साड़ी के पल्ले से मुँह पोंछकर बरामदे की आलमारी में पड़ी एक छोटी-सी डिबिया में से उन्होंने चुटकी भर विभूति निकाली। भगवान् का नाम लेते हुए उसे माथे पर लगाकर लौट आईं। तब तक गणेश अय्यर आराम कुर्सी के पास ही खड़े रहे।

वह आराम कुर्सी दादीजी का निजी सिंहासन था। जब वें घर पर नहीं होती थीं तभी दूसरे लोग उस पर बैठते थे। दादी के आराम कुर्सी पर विराजमान होते ही गणेश अय्यर एक कुर्सी खींच लाये और पास बैठकर उन्हें पंखा झलने लगे। दादी के बैठते ही जाना उनकी गोद पर सवार हो गयी मानो वह इसी इंतज़ार में थी कि दादी कब बैठेंगी ?

'दादी धूप में चलकर आयी हैं तू ज़रा हट कर बैठ। आते ही तू उन पर सवार हो गयी है।' कहकर पंखा झलते हुए गणेश अय्यर ने पंखे से ही जाना को दूर हटाया। 'रहने दे बेटा... बच्ची है ! तू बैठी रह, मेरी बच्ची !' कहकर दादी ने गोद में बैठी बच्ची को दोनों हाथों से भींच लिया।

'अब आप क्या करेंगे !' कहकर जाना मुँह बनाकर पिता को चिढ़ाने लगी।

जाना को गोद में लिए हुए ही दादी ने पास के स्टूल पर रखे अपने थैले को उठाया। थैले में रखी ककड़ियों को जमीन पर रखते हुए उन्होंने एक ककड़ी जाना को दी। गोल-गोल लपेटकर रखी गयी अपनी दूसरी साड़ी को तार पर लटकाने के विचार से उन्होंने उसे दूर सरकाकर रख दिया और फिर थैले को उलट दिया। कच्ची मूँगफलियों के साथ एक सफ़ेद लिफ़ाफ़ा ज़मीन पर आ गिरा। 'मीना और अम्बी कहाँ हैं ? दिखाई नहीं दे रहे।' कहकर दादी ने चारों तरफ़ नज़र दौड़ाई। कुछ देर बाद, 'यह लिफ़ाफ़ा गीता ने तुझे देने के लिए कहा है।' कहकर दादी ने ज़मीन से लिफ़ाफ़ा उठाकर बेटे की ओर बढ़ा दिया।

सिनेमा हॉल घर के बहुत पास था फिर भी गणेश अय्यर को डर था कि माँ गुस्सा होंगी कि बीस साल क़ी जवान लड़की को अम्बी के साथ मैटनी शो देखने क्यों भेज दिया। लिफ़ाफ़े को हाथ में लेते हुए डरते-डरते वे बोले, 'मीना के पढ़े हुए एक अच्छे-से उपन्यास को फिल्म के रूप में दिखाया जा रहा है। इस फिल्म को देखने के लिए सुबह से दोनों दुष्ट मेरी जान खा रहे थे। मैटनी शो ही तो है, यह सोचकर मैंने उन्हें जाने की अनुमति दे दी।'

दादी ने एक खास पत्रिका और एक लेखक का नाम लेते हुए कहा, 'अरे ! इस पत्रिका में इस लेखक की जो धारावाहिक कहानी छपी थी क्या तू उसी की बात कर रहा है ?...मैंने भी एक-दो जगह इस फिल्म का विज्ञापन देखा था। इतनी-सी बात के लिए बच्चों को गाली क्यों

दे रहा है ? मैं और तू सिनेमा के वारे में कुछ नहीं जानते लेकिन आजकल के वच्चे तो सिनेमा के अलावा कुछ नहीं जानते। हमारे वच्चे तो फिर भी बहुत सीधे हैं...' कहकर दादी ने अपने बेटे को समझाया। कुछ देर बाद दादी बोलीं, 'जब मैंने गीता से पूछा कि लिफ़ाफ़े में क्या है तो वह बड़े रहस्यात्मक ढंग से मुस्कराई और पिताजी आपको सब कुछ बतला देंगे कहकर उसने लिफ़ाफ़ा मुझे पकड़ा दिया।'

जैसे ही गणेश अय्यर ने लिफ़ाफ़ा खोलकर, चश्मा लगाकर उसमें से निकले कागज़ पर लिखे शब्दों को पढ़ना शुरू किया, उनके हाथ काँपने लगे, चेहरा पसीने से तर हो गया और होंठ फड़कने लगे। पत्र पढ़कर उन्होंने सामने की दीवार पर टँगी नववधू के रूप में खड़ी गीता की तस्वीर को घृणा भरी दृष्टि से देखा।

माँ के निकट बैठे हुए—उस मधुर वातावरण में, आनंद के अपार सागर में डूबते-उतरते हुए गणेश अय्यर का चेहरा एकाएक कुम्हला गया। उन्होंने कुर्सी की वाँहों को कसकर पकड़ लिया और सूनी आँखों से माँ की ओर देखने लगे। पत्र उनके हाथ से खिसककर नीचे गिर पड़ा। उन्होंने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

'हाय रे! यह क्या हुआ?' कहकर दादी ने ज़मीन पर पड़े उस पत्र को उठा लिया और उसे रोशनी की ओर बढ़ाकर पढ़ने लगीं। इस उम्र में भी वे बिना चश्मे के पढ़ सकती थीं।

'मेरे प्यारे पिताजी, माताजी और दादीजी,

छ: महीने तक सोचने-विचारने के वाद आज एक निर्णय पर पहुँचकर बड़े शान्त भाव से मैं आप लोगों को यह पत्र लिख रही हूँ। इस पत्र के आप लोगों तक पहुँचने के बाद हमारे बीच का पत्र-व्यवहार रुक जाएगा, शायद वातचीत भी बंद हो जाएगी—यह सब कुछ जानते हुए भी मैं आप लोगों को यह पत्र लिख रही हूँ।

मैंने अपने एक सहकर्मी हिन्दी पण्डित श्री रामचन्द्रन् से अगले रविवार को कानूनी ढंग से विवाह करने का निश्चय किया है। वे जानते हैं कि मैं विधवा हूँ। 'ऐसा करना पाप है' इस भावना और विचार को लेकर मैं छ: महीने तक अपने आप से उलझती रही। अब मैं एक निश्चय पर पहुँच गयी हूँ। मैं जान गयी हूँ कि मैं पूरे मन से वैधव्य व्रत का पालन नहीं कर सकती। मेरी सच्चरित्रता इसी बात में है कि मैं तरह-तरह के भेष धारण कर स्वयं कलंकित होकर परिवार को भी कलंकित न करूँ। इस तीस साल की उम्र में भी मैं अपनी भावनाओं को अपने वश में नहीं कर पा रही हूँ। मन में डर है कि कहीं पाँच साल बाद फिर यही निर्णय न लेना पड़ जाय। इसी से मैंने सोचा कि इस काम को अभी कर लेना ही अच्छा है। मेरे विचार में मैं जो कुछ कर रही हूँ वह ठीक ही है।

मुझे नहीं लगता कि मैं कोई गलती कर रही हूँ। मुझे इस बात का कोई दु:ख नहीं है। इसके लिए आप लोगों से माफी माँगने की इच्छा भी नहीं है। कभी-कभी यह सोचकर मुझे दु:ख होता है कि मैं अपने सभी रिश्तों को, आप लोगों के प्यार को खो बैठूँगी। साथ ही मैं यह सोच-कर शान्ति और अपार आनन्द का अनुभव करती हूँ कि मैं नया जीवन, नया प्रकाश पाकर नए युग की सन्तान बनने के अपने स्वप्न को पूरा कर लूँगी।

आज के युग में कब किसका मन किस तरह बदल जाएगा, कोई नहीं जानता। यदि आप मेरे निर्णय को स्वीकार करते हैं तो मैं आपके स्नेह-ममता भरे आशीर्वाद की प्रतीक्षा कर रही हूँ। हाँ, अब भी एक सप्ताह का समय बाकी है। यदि आपको मेरी बात अनुचित लगती है तो

सोच लीजिए कि आपकी गीता मर गयी और गंगा नहा लीजिए।

हाँ, मैंने यह निर्णय अपनी मर्जी से ही लिया है। मेरे लिए दादीजी के अलावा और किसने अपनी सुख-सुविधा का त्याग किया है ? कोई भी मेरे लिए ऐसा क्यों करेगा ?

आप लोगों के प्रति सदा अनवरत प्रेम रखने वाली
गीता'

'हाय रे ! यह क्या हुआ ?' इसके अलावा कुछ भी कहने की शक्ति दादी में नहीं रही। वे दुःखी होकर सूनी-सूनी आँखों से चारों ओर देखने लगीं।

गणेश अय्यर तनिक कठोर होकर निर्दयता भरे स्वर में बोले, 'वह मर गयी। अब हमें गंगा नहा लेना चाहिए।'

दादी माँ चकित हुईं !

'माँ के आज्ञाकारी बेटे' ने पहली बार माँ की सलाह, उत्तर, आदेश, आज्ञा आदि की प्रतीक्षा किए बिना ही अपने आप एक निर्णय ले लिया था। दादी की दोनों आँखें भर आयीं। वात्सल्य की तीव्र भावना से उनका हृदय तेज़-तेज़ धड़कने लगा। छाती पर हाथ रखकर उन्होंने पूछा, 'पिता होकर तू ऐसी बात कह रहा है ?'

'मैं और क्या कहूँ माँ ? आपके वंश में...इस परिवार में जन्म लेकर...हाय !' उस अपमानजनक स्थिति की कल्पना भी न कर सकने के कारण गणेश अय्यर एकाएक चीख उठे।

'मेरा युग दूसरा था बेटा !' ये शब्द दादी की ज़ुबान पर आकर रह गए। आज इतने सालों के बाद दादी को एक महान सत्य का ज्ञान हुआ।

'मेरा पुत्र मेरी आज्ञा और आदेश का पालन करने के लिए सदा तैयार रहता था। इसका कारण मात्र उसका मातृ-प्रेम नहीं था। मैं अपने युग की प्रतिनिधि हूँ। ऐसा युग जो कि नियमों में जकड़ा हुआ था। मेरा जन्म ऐसे परिवार में हुआ था जो कि शास्त्र के नियमों का आदर करता था। पुरानी परम्परा के अनुसार अपना परिवार चलाने के लिए और स्वयं उसके ऐसा करने में असमर्थ होने पर मैं ऐसा कर सकूँगी—इस विश्वास के कारण ही वह मेरे आदेश का पालन करने के लिए तैयार रहता था। ऐसा करके उसने पुराने युग और उस समय के नियमबद्ध जीवन के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है।' दादी मन ही मन अपने बारे में, अपने बेटे के मूर्खतापूर्ण निर्णय के बारे में और एकाकी हो जाने से सबके प्रेम की अधिकारिणी बनी हुई गीता के बारे में सोचती हुई मौन बैठी रहीं।

तभी पार्वती वहाँ आयी। वह ज़मीन पर पड़े उस पत्र को उठाकर पढ़ने लगी जिसने माँ-बेटे को दुःख के अपार सागर में डुबा दिया था। 'अरी पापिन ! तूने मुझे डुबा दिया' कहकर वह अपना सिर पीटने लगी।

दादी ने अपने स्वभाव के अनुसार शान्त भाव से फिर से उस पत्र को हाथ में लेकर उसकी अंतिम पंक्ति को पढ़ा—'मैंने यह निर्णय अपनी मर्जी से ही लिया है। मेरे लिए दादीजी के अलावा और किसने अपनी सुख-सुविधा का त्याग किया है ?' गीता के ये शब्द सुई की तरह चुभ गए। दादी ने अपने होंठ काट लिए। उसके इन शब्दों का अर्थ और कोई नहीं समझ सकता था। केवल दादी ही समझ सकती थीं।

अठारह साल की कच्ची उम्र में ही गीता के माथे की बिन्दी पुँछ गयी थी। उसने बालों में खुशबूदार फूल लगाना छोड़ दिया था। इसे गीता का दुर्भाग्य मानकर क्या उसके माता-पिता

ने उसके अपार शोक को नहीं भुला दिया था? गीता के विधवा हो जाने के बाद ही तो पार्वती ने अम्बी और जाना—इन दो बच्चों को जन्म दिया था!

इसमें क्या! यही तो गृहस्थ लोगों के जीवन की सहज गति है।

वैवाहिक जीवन का आनन्द न उठा सकने के कारण गीता के हृदय में उत्पन्न हो बिखरने वाली इच्छाओं और भावनाओं, क्षीण हो जाने वाली स्मृतियों, कीड़े द्वारा छेदी गयी लकड़ी की तरह निरन्तर छिद-छिदकर मिट्टी का ढेर बन जाने वाले स्वप्नों के बारे में वे कहाँ जानते हैं?

लेकिन?—

हिन्दू परिवार में उत्पन्न गौरी दादी लगभग आधी शताब्दी पहले गीता से छोटी उम्र में, उसी की तरह अपने सुखी जीवन के एकमात्र आधार को खोकर वैधव्य की आग में जा गिरी थीं। वे अतीत की मधुर स्मृतियों को हृदय में संजोए हुई थीं। उन्होंने अनेक मधुर स्वप्न देखे थे। जानबूझकर अपनी इच्छाओं को मार दिया था। गीता को देखकर उन्हें अपने अतीत की याद न आयी हो और उन्होंने उसके दुःख को न समझा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है?

यही कारण था कि गीता का निर्णय जानकर गौरी दादी गणेश अय्यर या पार्वती की तरह न उसकी निंदा कर सकीं, न शाप दे सकीं और न ही उसे त्याग देने की बात सोच सकीं। उनका हृदय रो उठा। वे बार-बार दुःखी होकर, हाथ मलती हुई यही कहती रहीं, 'हाय! यह क्या हो गया?...हाय! यह क्या हो गया?'

दिन ढलने पर, दिया जलाने के समय मीना और अम्बी मैटनी शो देखकर लौटे। बरामदे में कदम रखते ही आराम कुर्सी पर लेटी हुई, किसी गहन सोच-विचार में लीन दादी को देखकर अम्बी सहसा रुक गया। उसने मुड़कर पीछे आती हुई मीना से धीरे-से कहा, 'अरी दादी आयी हैं...!'

'कहाँ हैं? अन्दर हैं या आँगन में हैं?' पूछती हुई मीना कुछ पीछे हट गयीं। अम्बी बोला, 'अपने सिंहासन पर आराम से सो रही हैं।'

मीना ने बड़े 'स्टाइल' से तह करके कंधे पर डाली ओढ़नी को थोड़ा-सा फैला लिया और उसके एक किनारे को खींचकर कमर में खोंस लिया। ओढ़नी का पल्ला ठीक जगह पर है ऐसा विश्वास हो जाने पर मीना सिर झुकाए, भोली-सी सूरत लिए घर के भीतर चल दीं।

अन्दर जाने पर उसे मालूम हुआ कि दादी जाग रही हैं। पिता कुर्सी पर चुपचाप बैठे थे और माँ पल्ले से मुँह ढाँपकर कोने में बैठी हिचकियाँ भर रही है। उन लोगों की ऐसी दशा देखकर वे दोनों चकित रह गए। उनकी समझ में नहीं आया कि वहाँ कौन-सी दुर्घटना घटी है।

उसी समय जाना हँसती हुई अम्बी के पास आई। 'दादी ककड़ी लाई हैं जी' जाना के इन शब्दों को सुनकर दादी चौंकी। उन्होंने पीछे मुड़कर मीना को एक नज़र देखा। मीना ने दादी से प्रश्न किया, 'दादीजी, आप कब आयीं?' और फिर इशारे से पूछा—'क्या बात है...ये लोग इस तरह चुपचाप क्यों बैठे हुए हैं?'

दादी की आँखें भर आयीं।

मीना को देखने के बाद ही दादी इस बात को समझ पाईं कि गणेश अय्यर ने गीता को मरी हुई जानकर गंगा नहाने की बात क्यों की थी और पार्वती ने गुस्से से भरकर उसे शाप क्यों दिया था।

मीना ज़मीन पर पड़े उस पत्र को उठाकर पढ़ने लगी।

दादी उसे पत्र पढ़ने से रोकना चाहती थीं लेकिन जाने क्यों उन्हें लगा कि उसे यह पत्र पढ़ लेना चाहिए। वे चुपचाप मीना के चेहरे को घूरती रहीं।

मीना के चेहरे पर एकाएक घृणा का भाव उभर आया। 'तेरा सत्यानाश हो' कहते हुए मीना ने दोबारा उस पत्र को पढ़ा। उसके पीछे खड़े होकर उस पत्र को पढ़ते हुए अम्बी ने ऐसा मुँह बनाया मानो अरंडी का तेल पी लिया हो।

उस घर में अचानक चुप्पी-सी छा गयी। शहर में प्लेग की बीमारी फैलने पर घर में एक चूहे को मरा देख लोग जिस तरह दुःखी होते हैं उसी तरह दुःखी होकर सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

गौरी दादी रात भर नहीं सोयीं। न उन्होंने खाना खाया और न ही अपनी आराम कुर्सी से उठकर कहीं गयीं। अपने लड़के, बहू, पोते-पोतियों को देखते हुए और गीता के बारे में सोचते हुए वे लम्बी आहें भरती रहीं। 'अपनी आदत के खिलाफ वह मुझे बस अड्डे तक छोड़ने आयी थी। बस के चलने पर उसने अपनी आँखें पोंछी थीं—मैंने तो यही समझा था कि उसकी आँखों में धूल गिर गयी है।' मन ही मन दुःखी होते हुए दादी बार-बार इसी प्रश्न को दुहरा रही थीं—'हाय गीता! तूने ऐसा क्यों किया?' पौ फटने से पहले अनजाने ही दादी की आँख लग गयी। जागने पर उन्होंने देखा कि दिन चढ़ गया है।

जालीदार किवाड़ के पास, गली में नाई वेलायुदम अपनी पेटी लिये खड़ा था। आँख खुलने पर दादी ने सोचा कि यह सब कुछ स्वप्न क्यों नहीं हो गया। लेकिन स्टूल पर पड़ा गीता का पत्र इस घटना की सच्चाई की घोषणा कर रहा था।

दादी ने फिर एक बार उस पत्र को पढ़ा। तभी कमरे से निकले गणेश अय्यर ने रातभर गीता की चिन्ता में लीन माँ को ढाढ़स बँधाने की कोशिश की। वे बोले, 'अम्मा! वेलायुदम आया है—तू गीता को मरी हुई समझकर गंगा नहा ले!'

'अपना मुँह बंद कर' दादी गरज उठीं। 'सुबह-सुबह ऐसे अशुभ वचन क्यों बोल रहा है? उसने तेरा क्या बिगाड़ा जो तू उसके मरने की बात सोच रहा है...?' दादी ने गंभीर स्वर में कहा। उस अपार दुख को सह न सकने के कारण वे फूट-फूटकर रोने लगीं। उनका चेहरा एकदम लाल हो गया। अपनी लाल-लाल आँखों से उसे घूरते हुए उन्होंने गुस्से से पूछा, 'क्यों रे! बोलता क्यों नहीं?...उसने कौन-सी गलती की है? बता कौन-सी गलती की है?' माँ के इन शब्दों को सुनकर गणेश अय्यर क्षण भर के लिए जड़-से खड़े रहे।

'उसने कौन-सी ग़लती की है?...माँ! तू क्या पूछ रही है? क्या तू पागल हो गयी है?' गणेश अय्यर चीख उठे।

दूसरे ही क्षण अपनी आदत के अनुसार दादी शान्त हो गयीं और बेटे की ओर देखती हुई कुछ सोचने लगीं। उनका लड़का पहली बार उनसे इस तरह बोला था। दादी ने धीमी आवाज़ में कहा, 'हाँ बेटा मैं पागल हूँ—मेरा पागलपन नया नहीं बहुत पुराना है...मेरा यह पागलपन कभी नहीं मिट सकता। मैं चाहती हूँ कि मेरा पागलपन मेरे साथ ही मिट जाय। उसका पागलपन इतनी जल्दी, एकाएक दूर हो गया, इसके लिए कोई क्या कर सकता है? उसने तो कह ही दिया कि वह जो कुछ करने जा रही है वह उसकी नजर में बिल्कुल ठीक है। तरह-तरह का भेष धारण कर बुरा नाम कमाने से बचने के लिए ही उसने यह निर्णय लिया है...।'

माँ की बात काटते हुए गणेश अय्यर ने पूछा, 'उसके ऐसा कह देने से क्या उसका किया सब कुछ ठीक हो जाएगा ?'

'उसका तो यही कहना है कि जो कुछ वह कर रही है, उसकी नज़र में बिल्कुल ठीक है···जरा सुनूँ तो, अब तू क्या कहता है' अपने एक हाथ पर दूसरे हाथ से घूसा जमाते हुए दादी ने पूछा।

गणेश अय्यर क्रोध से दाँत पीसते हुए बोले, 'वह दुष्टा ! कलंकिनी ! परिवार की मर्यादा को तोड़ने वाली वह चरित्रभ्रष्ट लड़की मर गयी ऐसा सोचकर तू गंगा नहा ले।' दादी माँ थोड़ी देर तक अपने-आप को और अपने लड़के को तटस्थ दर्शक की तरह देखती रहीं। कुछ देर बाद विचित्र ढंग से हँसती हुई वे बोलीं—

'तू शास्त्र की...नियम की बात कर रहा है ! क्या तू जानता है कि उस समय तुझे क्या करना चाहिए था ? क्या तू जानता है कि शास्त्र के नियमों ने मेरी क्या दुर्दशा की ?...उस समय तू दूध पीता बच्चा था...मेरी उम्र सिर्फ पंद्रह साल की थी ! मेरा बच्चा मेरे इस रूप को देख-कर इस तरह चीख उठता था मानो उसने किसी भूत-प्रेत को देख लिया हो !... माँ का दूध न मिलने पर तू चीख-चीखकर रोता था और मेरे पास आने पर भय से चीख उठता था। जो कुछ हुआ था उसे मेरा दुर्भाग्य मानकर घरवालों ने मुझे एक कोने में धकेल दिया। तूने गीता का सिर मुँडाकर उसे कोठरी में क्यों नहीं धकेल दिया ? बोल उसकी दुर्दशा क्यों नहीं की ?' आँखों से आँसू बहाते हुए जब दादी ने यह प्रश्न पूछा तब गणेश अय्यर की आँखें भी भर आयीं। कुछ देर बाद वे बोलीं—

'क्या तेरे धर्मशास्त्र में यही लिखा था कि तू विधवा बेटी को रंगीन कपड़े पहनने दे ? बाल सँवारकर, जूड़ा बनाकर स्कूल जाने दे ? स्वयं कमाकर अपना पेट पालने दे ? इन सब बातों के लिए जब तूने मुझसे अनुमति माँगी तो मैंने चुपचाप अनुमति दे दी। जानते हो क्यों ?... क्योंकि ज़माना बदल रहा है। इसके साथ मनुष्य को भी बदलना चाहिए। मेरे पास पुत्र के रूप में एक आधार था, मकान था, ज़मीन थी। मेरा ज़माना भी दूसरा था। आज गीता ने जो काम किया है, उस ज़माने में इसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। आज के ज़माने में उस ज़माने की तरह जीना संभव नहीं है। मैं तेरी परेशानी को भी समझ रही हूँ। तू बाल-बच्चों वाला है...कल तुझे उनका भी विवाह आदि करना होगा। इस बात को मैं भी जानती हूँ और गीता भी। शास्त्र के नियम क्या उसे चैन से जीने देंगे ?... उसने तो साफ़-साफ़ लिख दिया है कि इन नियमों में उसका कोई विश्वास नहीं है।...बेटा गणेश ! मुझे माफ़ कर दे...मुझे गीता चाहिए...बस वही चाहिए ! हाँ अब मेरे जीवन में कुछ पाने की इच्छा कहाँ शेष रह गयी है ? मैं चाहती हूँ कि धर्मशास्त्र के नियम मुझ तक सीमित रहें...मेरे शरीर के साथ जलकर राख हो जाएँ...तुम लोग सुखी रहो...अच्छा तो मैं जा रही हूँ...गीता के पास जा रही हूँ...ऐसा करना ही ठीक होगा। तनिक सोचकर देख...मेरा यह निर्णय अवश्य ही तुझे सन्तोष देगा...यदि ऐसा नहीं हुआ तो तू उसके साथ मुझे भी मर चुकी समझकर गंगा नहा ले।' ऐसा कहती हुई अपनी साड़ी को खाकी रंग के थैले में ठूँसती हुई दादी उठ खड़ी हुईं।

गणेश अय्यर, 'अम्मा ! अम्मा !...' कहकर हाथ जोड़े हुए आँसू बहाने लगे।

'बुद्धू कहीं का...क्यों रो रहा है ? मैंने बहुत सोच-समझकर ही यह निर्णय लिया है... वह चाहे जो कुछ करे आखिर है तो हमारी बच्ची ही...' दादी ने धीरे से कहा और 'पार्वती !

तू घर को अच्छी तरह से चलाना...' कहकर सबसे विदा लेकर चल पड़ी।

'मुझे जल्दी ही गीता के पास पहुँचना है।' मन ही मन बुदबुदाते हुए जैसे ही दादी मुड़ीं, उन्हें दरवाज़े के पास वेलायुदम खड़ा दिखलायी दिया।

'बेटा तू लौट जा...मुझे ज़रूरी काम से नैवेली जाना है' कहकर उन्होंने उसके हाथ पर चार आने रख दिए।

'अब यह मेरे लिए यहाँ नहीं आएगा...तो क्या हुआ ? दुनिया में कितनी चीज़ें बदल जाती हैं ! क्या मैं अपना नाई नहीं बदल सकती ?' यह सोचकर हँसते हुए दादी ने थैले को कमर पर लाद लिया। सीढ़ियाँ उतरकर दादी मुड़ीं और उन्होंने, 'अच्छा तो मैं चलती हूँ' कहकर सबसे फिर एक बार विदा ली।

वह देखो, सुबह की हल्की धूप में ठंडी मिट्टी पर पैरों को जमा-जमाकर रखती हुई, एक ओर झुकती हुई दादी चली जा रही हैं।

यदि शान्त भाव से धीरे-धीरे चलने वाला पुराने युग का एक प्रतिनिधि बड़ी तेज़ी से और आवेश के साथ बढ़ते हुए नये युग से मिलकर उसे अपनाने के लिए चल पड़े तो ?...

ओह ! उसके लिए उपयुक्त अवसर की आवश्यकता है !

तमिष् से के० ए० जमुना द्वारा अनूदित

नानी

□ जीवकान्त

वह मौसी के यहाँ चल पड़ा ।

यह पहला मौका है कि वह मौसी के गाँव जा रहा है। इससे पहले उसे अपनी तीनों मौसियाँ ननिहाल में ही मिलती रही हैं ।

वह बिन बुलाए वहाँ जा रहा है, इसलिए जाना थोड़ा दुरूह लग रहा है ।

जाने की एक ही वजह है। नानी ने कहा था कि वह जाकर फिरोजगढ़ वाली मौसी से कह आए। वह सुनेगी और आ जायेगी और उसकी देखभाल करेगी ।

वह तीन दिन पहले नानी को देखकर गाँव आया था। नानी बिस्तर से चिपकी हुई थी। बच्चे की तरह मचलती-सी। मचल-मचलकर उसने कहा था—'झूठे कहीं के ! सभी वादा करते हैं कि मैं तुमसे सच कहता हूँ, फिरोजगढ़ जाऊँगा और तेरी बेटी को लिवा ले आऊँगा। मैं राह देखती रह जाती हूँ। दिन बीतते जाते हैं। न तो मेरी बेटी आती है और न उसकी खबर ही। तू भी मेरे सामने प्रतिज्ञा करेगा कि जाऊँगा और मेरे सामने झूठ-मूठ में सिर हिलाता रहेगा। आँगन की देहरी लाँघेगा और फिर भूल जायेगा। याद भी रहे तो सोचेगा कि बुढ़िया यों ही बड़-बड़ करती रहती है।'

नानी हर बात को बहुत दुहराती है। एक ही बात को बीसों बार न दुहराया तो बूढ़ा क्या ? उसे याद आता है, बचपन में देवनारायण मास्टर गुणा के पहाड़े छड़ी लेकर बीस-बीस

बार दुहरवाते थे। थोड़ी-सी गलती हुई कि छड़ी बरसा दी।

देवनारायण मास्टर छड़ी उठाते थे और छटपटा देते थे। नानी आँखों में आँसू भरकर बोलती थी—झूठे, धोखेबाज ! नानी के आँसू बोलते थे—ठग ! सारे ठग हैं। तू भी ठग है।

देवनारायण मास्टर की छड़ी और नानी के आँसुओं में कोई फर्क नहीं मालूम हुआ था।

एक दो दिन जाड़ा ठिठुरता रहा। दिन के दो बजे तक धुंध बनी रहती। वह अपने यहाँ चमकीली धूप की प्रतीक्षा करता रह गया कि धूप निकले और नानी का संवाद वह पहुँचा आये, मगर वह उलझकर रह जाता था। प्रत्येक दिन नहाने और खाने से फुर्सत होने पर बीते छन याद आ जाते थे। ननिहाल लौट आता था। आँगन के उत्तर वाले बरामदे पर धूप में नानी लिटायी रहती थी, अशक्त और निस्तेज। नानी की आँखों में आँसू भर आते थे—ठग कहीं का ! तूने वादा किया था कि तेरा संवाद दे आऊँगा। ठग कहीं के ! कह आये ? तूने वादा कर लिया और मटिया दिया—झूठे कहीं के !

बूढ़े-बूढ़ियों को यह क्या हो जाता है ? जाड़ा गिरा कि वे कटे हुए पेड़ों की तरह गिर जाते हैं। अब उन्हें खड़ा करते रहो। सेवा करो, मालिश करो। दवा-दारू करो। पथ्य-पानी करो। खड़े हुए तो ठीक, नहीं तो माघ के जाड़े में किस्सा कोताह !

बुढ़ापा मानो जीवन नहीं है। मौत है बुढ़ापा। मौत जैसे धीरे-धीरे ग्रसती आती हो। यही है बुढ़ापा—यह किस खूबी से लाचार करता जाता है। बूढ़े-बूढ़ियाँ नचारी (लाचारी) गाते-गाते साफ हो जाते हैं। नचारी गाती थी उसकी नानी—ठग कहीं के ! मान लिया और झुठला दिया। मेरी बेटी को नहीं लाये न। झूठे कहीं के।

वह कालेज में पढ़ता था और उसके पिताजी लिखते थे कि नानी बीमार हैं। प्रायः अनेक सालों से अथबल पड़ी हुई हैं। इधर छह महीनों से उसने खाट पकड़ ली है। पड़ी रहती है और सबों पर चिढ़ती रहती है।

वह एक दिन नानी के पास रहा। नानी का पुराना स्नेह खत्म हो गया था। स्नेह का स्थान चिड़चिड़ेपन ने ले लिया था। हज़ार उलाहने। अपनेपन की याद दिलाकर अपने प्रति की जा रही उपेक्षा की कहानियाँ, सिर्फ उपालंभ।

नानी कहती थी—'मुझे एक लोटा गरम पानी देना। गरम पानी से देह पोंछूँगी। ठंडे पानी से देह नहीं पोंछ सकती। देह नहीं पोंछूँगी, तो कपड़े कैसे बदलूँगी ? कपड़े नहीं बदले, तो मुँह जूठा कैसे करूँगी ?'

मामी ज़िद करती थी कि कपड़े बदलें तो ठीक, न बदलें तो ठीक, मगर हलवा खा लें।

नानी सामने हलवा रखकर पानी माँगती थी। कपड़े बदलना चाहती थी। नानी के सामने मामी बर्फीला पानी रख जाती थी। उसके बाद नानी का चिड़चिड़ाना शुरू हो जाता था। सिर्फ थोड़ा गरम पानी के लिये।

रसोई में बैठी मामी की पतोहू दाल चढ़ाये रहती थी, सुनती रहती थी और दाल का अदहन नहीं उतारती थी। वह डरती थी कि दाल कच्ची न रह जाये।

आँगन के बीचों-बीच धान उबालती हुई मामी सुनती रहती थी गरम पानी की बात, मगर उबालने का कनस्तर भट्ठी पर से नहीं उतारती थी। बूढ़ी उबालने के गंदे पानी से देह नहीं छुलायेगी।

अन्त में नानी का चिड़चिड़ापन दूसरों को बहरा बनाता-बनाता उसकी अपनी आँखों में

आँसू ले आता था और सामने परोसा हुआ हलवा निगलना मुश्किल हो जाता था।

दोपहर में बूढ़ी धूप में लिटाया जाना पसन्द करती थी। उसकी इच्छा रहती थी कि कोई सरसों का तेल उसकी पीठ में मलता रहे। पर ऐसा नहीं होता था।

नानी कहती रहती थी—'पीठ दुखती है। कोई तेल मलो और सेंको।' उस दिन भी उसका ममेरा भाई धान कटवाने खेत चला गया था। उस दिन भी उसका मामा खलिहान में पाँच दर्जन धान के बोझों की दँउनी करवाता रहा था।

नानी कहती रही कि पीठ फटी जा रही है। जरा पीठ दबाओ और सेंक दो।

उस दिन भी मामी ने धान उबालने में सुबह की शाम कर दी थी। उस दिन भी मामी की पतोहू ने रसोई से छुट्टी पाकर धान का पयार उलटने-पुलटने में दिन खत्म कर दिया था।

वह कालेज से घर आया था। अपने गाँव से फिर ननिहाल आया था, जैसे लड़के पिकनिक पर जाते हैं।

नानी की हाय-हाय उसने सुनी थी। उसने भी पहले उसे अनसुना किया था। बाद में नानी के पास बैठा था। नानी से पूछा था—'नानी, मैं तेरी टाँगें दबा दूँ ?'

नानी ने मना कर दिया था—'ना रे, तेरे से नहीं होगा। तू छोड़।'

पर नानी की हाय-हाय बन्द नहीं हुई। वह किसी का नाम नहीं लेती थी, पर सबका नाम लेती थी।

वह सरसों का तेल लाकर बैठा। दोनों हाथों में तेल मल लिया। नानी की पीठ पर हाथ फेरने लगा।

नानी की पीठ पर हाथ पड़ा नहीं कि नानी चौंक गयी— 'कौन है रे ?' उसने कहा कि वह थोड़ा तेल लगा देता है। नानी मना करती रही। वह अनसुना कर तेल मलता रहा। अकस्मात् नानी ने चिल्लाकर कहा—'रे राक्षस, तूने मेरी पसली तोड़ दी रे !' उसने तुरंत नानी की पीठ से हाथ हटा लिये। बोला—'नहीं तो, मैंने तो नहीं तोड़ा ! दुख गया क्या ?'

वह भागकर दरवाजे पर आ गया था और सबसे पूछकर अपने गाँव लौट आया था।

क्या होता है ? हर आदमी किसी-न-किसी चक्र पर बैठा हुआ है। चक्र अविराम घूमता है। चक्र पर घूमना ही इंसान की जिन्दगी बन गयी है। चक्र की अपनी गति है, अपनी ताल-लय है। ताल-लय टूट जाये, तो इंसान मिट्टी हो जाता है। ताल को भंग कर इंसान ज़िन्दा नहीं रह सकता।

उसका मामा, मामी, उसका ममेरा भाई तथा वह अपने वैयक्तिक जीवन के ताल-राग में, राग-ताल में बन्दी हैं। अपनी-अपनी दिनचर्या के बन्दी हैं।

नानी झूठा न कह दे, इसलिए वह मौसी के गाँव जा रहा है। मगर ?...

यदि मौसी ने भी अपनी व्यस्तता दिखायी और कह दिया कि बबुआ, अगहन है और उसकी व्यस्तता है। देख ही रहे हो, कैसे जाऊँगी ? जाऊँ तो साल भर की आशा कैसे बिगाड़ दूँ ?

मौसी का अपना छोटा संसार है, थोड़ी माया है। पर, मौसी का भी अपना राग-ताल है। वह राग-ताल तोड़ दे, तो इस संसार में फिर कैसे जियेगी ? और उसने अगर अपना राग-ताल नहीं तोड़ा, तो नानी अपना अन्तिम माघ यूँ ही रोती-कलपती बिता देगी...

मैथिली से लेखक द्वारा अनूदित

लिफ्ट

□ सुभाष चन्द्र यादव

खड़े-खड़े दिवाकर की टाँगें लोथ हो गईं, पर बस नहीं आई थी। लगता था कि अब आयेगी अब। कान लगाकर घुघुआती-घड़घड़ाती आवाज सुनता। लगता कि बस ही आ रही है। आवाज़ तेज और पास होती जाती। लेकिन नहीं! ट्रक था, जो पिघली हुई कोलतार पर, चरचराते हुए निकल गया। ट्रक न होता, तो कार या लारी होती। कब से यही हो रहा था। दिवाकर ने भारी साँस छोड़ी। पेड़ के तने से पीठ जो टिका रखी थी, सो मन हुआ, खिसककर नीचे ज़मीन पर बैठ जाय! ट्रक का छोड़ा हुआ कुटकुटाता धुआँ साँस अटकाने लगा।

गर्मी ने सारी ताकत जैसे सोख ली थी। कुछ बोलने की इच्छा नहीं हो रही थी। लोग चुप और बस के लिए व्यग्र थे।

यूनिवर्सिटी के पास खड़े दिवाकर को डेढ़ किलोमीटर दूर हॉस्टल जाना था। मोटर-साइकिल और स्कूटर वाले कुछ लड़के जा चुके थे और कुछ अब जा रहे थे। दिवाकर ने एक बार लिफ्ट लेने की कोशिश की, मगर तभी एक लड़की भी बढ़ी और वह बैठकर चली गई।

सब कुछ स्तब्ध और सुनसान था—पत्ते...सड़क...। दिवाकर को लगा जैसे स्नायु सब सुस्त और शिथिल हो गये हैं। गर्मी ने उसे पस्त और खिन्न कर दिया था।

एक आसमानी रंग की कार आ रही थी। दिवाकर के बाजू में खड़े लड़के ने आगे बढ़ कर हाथ दिया। कार रुकती देख दिवाकर भी बढ़ा। जगह थी और लिफ्ट मिल सकती थी।

दूसरे लोग जो लिफ्ट लेने के लिए दो-चार कदम बढ़ आये थे, थकमका गये थे।

कार चलने पर दिवाकर ने आफ़ियत महसूस की। हवा के झोंकों से उसकी अर्द्ध सुप्त और म्लान अवस्था टूट रही थी। उसने स्फूर्ति और चैतन्य अनुभव किया।

महिला एकाग्रता से कार चला रही थी। बगल का अधेड़ आदमी चुप बैठा था। दोनों प्रोफेसर होंगे, दिवाकर ने सोचा। स्त्री स्वस्थ और सुन्दर थी।

गद्देदार सीट दिवाकर को बहुत मुलायम और आरामदेह लग रही थी। सड़क सूनी और सपाट थी—कोई अवरोध, कोई रुकावट नहीं, जैसे किसी अन्य के उपयोग के लिए वह बनी ही न हो। कार मद्धिम और सम चाल से चली जा रही थी। झटकों और हिचकोलों का नाम नहीं। बस की सीली और सड़ी भीड़ से यह कितना अलग और अच्छा था! दिवाकर को एक रूमानी सुख की अनुभूति हुई। कार, स्त्री, वीरान दोपहर, हवा के हल्के थपेड़े—यह सब उसे विलक्षण और अविस्मरणीय लगा। लगा जैसे बाद में इसकी स्मृति भी उसे सुख देगी।

दिवाकर ने स्त्री की ओर देखा। उसने सफेद सादा लिबास पहन रखा था। चेहरा सौम्य और शान्त था।

यह स्त्री कितनी सुन्दर और गुणवती है!—दिवाकर ने आवेगपूर्ण ढंग से सोचा, जिसमें अभिलाषाजन्य पीड़ा थी।

प्रोफेसरों के बँगले दिखने लगे थे। उसी से सटा दूसरी तरफ हॉस्टल। दिवाकर को लगा जैसे कार बहुत जल्दी पहुँच गई।

अधेड़ आदमी उतर गया। उसका बँगला शायद आ गया था। उसने विदा माँगी। मिसेज कपूर सौजन्य के लिए मुस्कुरायी और सिर हिलाकर उसने स्वीकृति दी।

गाड़ी फिर से चली तो मिसेज कपूर को थकावट लगी। जले हुए पैट्रोल की तपती गंध ने उसे अलसा दिया था। आरामकुर्सी पर थोड़ी देर इतमीनान से लेटेगी और ताजा हवा मिलेगी तो ठीक हो जाएगी। उसने अनिच्छा से दिवाकर के बारे में सोचा जो अभी भी पिछली सीट पर बैठा था। दिवाकर उसे सुहाया नहीं था। रंग रूप अरुचिकर और अभद्र लगा था। तिस पर कैसे अहमक की तरह कार में आकर बैठ गया था! अभी जो वह टाँग फैलाए उठंगा हुआ था, मिसेज कपूर को बड़ा अशिष्ट और अप्रिय लगा। मनोज भी तो पीछे ही बैठा था, मगर कितनी शालीनता से?

मिसेज कपूर का बँगला आ गया। दस-बारह कदम आगे हॉस्टल था। कार से उतर मनोज ने विनम्र भाव से मिसेज कपूर को धन्यवाद दिया।

दिवाकर भी मिमियाया—'धन्यवाद' और चल पड़ा।

कूढ़मग़जी और अवढंगपने की हद थी। मिसेज कपूर का जी जल गया। दिवाकर का पिचका मुँह, हुलिया और रंग-ढंग बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मिसेज कपूर को घृणास्पद लगा। पर किसी मूर्ख-गँवार की तरह वह अपने क्रोध और घृणा का इज़हार नहीं कर सकती थी। उसकी अपनी एक सीमा और ढंग था जो सीधा और तात्कालिक नहीं था।

मिसेज कपूर ने पीछे से बुलाया तो दिवाकर को ताज्जुब हुआ। मनोज भी सम्भ्रम में खड़ा रह गया। मिसेज कपूर ने दिवाकर से नाम और कहाँ क्या पढ़ता है, अंग्रेज़ी में पूछा। उसके रूखे स्वर पर दिवाकर का ध्यान नहीं गया, और उसे लगा, उसमें कोई ऐसी विलक्षणता है जिसने मिसेज कपूर को आकृष्ट किया है। उसने उत्सुकता और स्पष्टता से जवाब दिया। मगर मिसेज कपूर को उसकी आवाज प्रगल्भ और अवांछनीय लगी।

'मनोज को मैं जानती हूँ और वह बिना पूछे भी बैठ सकता है। मगर तुम ? यह कोई भाड़े की गाड़ी नहीं है कि जहाँ मन हुआ रोक लिया और चढ़ गए !" मिसेज कपूर के तीखे और तराशते बोल से दिवाकर जैसे ऐंठकर रह गया। यह बात उसकी आशा और कल्पना के इतना विपरीत थी कि उसे लगा जैसे कोई उसका मुँह चिढ़ा रहा हो।

'अफसोस, पूछकर नहीं बैठा।'—उसने माफी माँगी।

बँगले से निकलकर दिवाकर ने अपमान और दुःख की उत्तेजना अनुभव की। मनोज से, जो साथ-साथ हॉस्टल जा रहा था, उसने मिसेज कपूर का नाम-पता पूछा, हालांकि उसे पता नहीं था, वह इसका क्या करेगा।

मनोज शुरू से आखिर तक चुप था। दिवाकर ने इस वक्त जो-जो पूछा, उसका उसने अत्यन्त आवश्यक और संक्षिप्त जवाब दिया था। दिवाकर को लगा, जैसे वह उठल्लू हो गया हो। मनोज की चुप्पी उसे बर्दाश्त के बाहर लगी।

तो यह भी मुझे भकलोल समझ रहा है !—उसने व्यंग्यपूर्ण ढंग से सोचा।

दरअसल हाथ देने पर जब कार रुकी थी, तो मनोज के पीछे-पीछे वह भी कार में घुस गया था। अलग से पूछने की उसे कोई जरूरत नहीं महसूस हुई थी। मनोज ने जैसे उसका भी प्रतिनिधित्व कर दिया था। पर मनोज से मिसेज कपूर के परिचय ने सब गड़बड़ कर दी। दिवाकर को अपनी मानसिक निश्चेष्टता पर पछतावा हुआ—उसने क्यों नहीं पूछ लिया।

मगर नहीं ही पूछा तो कौन सा अनर्थ हो गया, कितने ही कारण हो सकते थे। मिसेज कपूर ने यह कहाँ सोचा ? अगर वह सच ही भला करना चाहती, तो दिवाकर को पहुँचा कर उसे आत्मिक संतोष का अनुभव होता। उस हालत में पूछना-न-पूछना कोई महत्व न रखता। उसका परोपकार क्या सिर्फ अपनी प्रशंसा की क्षुद्र आकांक्षा से प्रेरित नहीं था ? दिवाकर जितना सोचता गया, मिसेज कपूर उसे उतना ही नीच और स्वार्थी लगी। उसके लिए यह सोच पाना मुश्किल था कि इजाज़त न लेकर मिसेज कपूर के महत्व और स्वामित्व-बोध को उसने कितना निराश और आहत कर दिया था।

मैथिली से राजमोहन झा द्वारा अनूदित

जली रस्सी की ऐंठन

□ श्री गोविन्द झा

गाड़ी खुल गयी। सभी यात्री गठरियाँ उठा विदा हुए। अकेला मैं प्लेटफार्म पर पड़ा रहा।

दो मील का रास्ता। निरा देहात। न कोई सवारी और न कोई कुली। गठरी भी इतनी बड़ी कि उठाकर दस कदम चलते ही थका दे। बंगाली स्टेशन मास्टर। हिन्दी, मैथिली, बंगला और अंग्रेजी में लाख खुशामद की, सब बेकार। वह 'ना बाबा, ना बाबा' भर कहता हुआ अपने डेरे की ओर विदा हो गया।

मुझे अपने घर के लोगों पर क्रोध हो आया। कहीं भी विदा होओ कि आग्रह पर आग्रह होने लगेगा। कहेंगे कि यात्रा में जलपात्र लेकर चलना ही चाहिए। यह भी कि देहातों में अब मच्छर बहुत काटते हैं—मच्छरदानी लेकर चलिये। दो सैट कपड़े भी लेकर नहीं चलेंगे तो कैसे काम चलेगा ? लाल भाई के लिए एक किलो चीनी भी लेते जाइये, अन्यथा बेचारे चाय भी नहीं पिला सकेंगे। यह भी कह दिया जाता कि कनियाँ के लिए एक अदद साड़ी और एक जोड़ी चूड़ियाँ खरीदी हैं—ज़रा सम्भालकर ले जाइयेगा। टूटे नहीं, हाँ ! यह सब सुन-सुनकर क्रोध से देह जलने लगती है।

और उस दिन उससे भी अधिक क्रोध स्वयं पर आया। यदि बचपन से ही गठरी ढोने की आदत लगा ली होती, तो आज इस तरह अवग्रह में नहीं पड़ गया होता। लेकिन अब क्रोध से क्या होना-जाना था ! गठरी खूंटे में परिणत हो चुकी थी और मैं उसमें बँधे बकरे-सा था।

ऐसे भी कह सकते हैं कि गठरी मेरे लिए ग्राह साबित हो रही थी और मैं गज बना था।

लगभग एक घंटे तक मैं गिरिधर गोपाल की रट लगाता रहा। शाम हो चुकी थी। शायद गिरिधर गोपाल ने मेरी रट सुन ली। मैंने देखा—एक आदमी की छाया मेरी ओर ही बढ़ी आ रही थी। वह आदमी आया और मेरे निकट आकर खड़ा हो गया। उसके पैर तक झूलती धोती और थोड़ा साफनुमा कुरता देख मैं निराश हुआ। जान में जान तब आयी जब उसने पूछा—'बाबू कहाँ जायेंगे आप!' फिर भी उस आगन्तुक का सुकुमार शरीर और संभ्रान्त चेहरा देख मैं संकोच में पड़ा था। मैंने कहा—'जाना तो है लगभग डेढ़ कोस, यही धरमपुर। लेकिन यह गठरी बला बन गयी है। आप एक कुली ढूँढ़ सकते हैं? मुँहमाँगा दूँगा।'

'हम, हम...।' उसने दो बार कुछ उत्तर देना चाहा। उसकी जीभ लटपटा जाती थी, फिर भी बात मेरी समझ में आ गयी। वह कहना यह चाहता था कि वह कुली का काम नहीं करता है।

'तब?' मैंने उसके समक्ष अपनी गम्भीर जिज्ञासा रखी। मैंने पान निकाला और खुशामद में एक बीड़ा पान उसकी ओर बढ़ाता हुआ कहा—'तब क्या रात मुझे यहीं काटनी होगी?'

उसने पान खा लिया। मैंने देखा कि उसने अपना सिर नीचा कर लिया है। वह सुनाने लगा—'अब देहात भी पुराना देहात नहीं रहा, बाबू! समय पर एक मजदूर भी नहीं मिल पाता। स्वयं कीजिये तो कोई काम हो, अन्यथा भुगतिये। मैं यह काम नहीं करता हूँ, फिर भी आपकी गठरी पहुँचा देता। लेकिन, आपने ऐसे गाँव का नाम लिया है कि मेरे पैर ही नहीं ससरते।'

'ऐसा क्यों?' मैंने पूछा।

'है एक कारण।' उसने उत्तर दिया।

वह इस गोपनीय कारण को प्रकट नहीं करना चाहता था। लेकिन बात को खोद-खोदकर मैंने रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर ही लिया। उस गाँव में उसका कोई सम्बन्ध पड़ता था। यदि कोई देख लेगा तो वह लाज से मर जाएगा। लोग कहेंगे—'राम-राम! वह गठरी ढोता है।'

लेकिन वास्तविकता यही थी कि वह अब गठरियाँ ढोने का काम करता था। मतलब यह कि वह कुली का काम करता था। यह बात छुपाने से छुप नहीं सकती थी। उसके सगे-सम्बन्धी और अड़ोस-पड़ोस के लोग जान ही गये होंगे, फिर भी उसे साहस नहीं हो पाता था कि वह परिचितों के सामने अपने को इस रूप में प्रकट करे। इसी लज्जा के कारण वह गाड़ी आने के समय में स्टेशन पर नहीं रहता था। वह तब आता था जब लाज को ढकने के लिए पर्याप्त अन्धकार फैल गया होता था। वह तभी आता जब प्लेटफार्म सूना हो जाता और मुझ जैसा गठरी से बँधा कोई लूला-लँगड़ा ही आतुरतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा में बैठा होता है।

मैं आश्चर्य में पड़ गया। गठरी उठाना तो कोई कुकर्म है नहीं! तब उसे इतनी लाज क्यों आती है? मन में हुआ कि श्रम की प्रतिष्ठा का ज्ञान करा उसकी कुंठा कम करने की कोशिश करूँ। लेकिन, ऐसा प्रसंग उठाना अभी अव्यावहारिक होता, अतः उसकी भावना का पूर्ण आदर करते हुए मैंने उसे अनुकूल बनाने की चेष्टा की।

'एक बात हो सकती है ?'

'कौन-सी बात ?'

'आप मुझे गाँव के निकट तक पहुँचा दीजिये। वहाँ से किसी प्रकार मैं इसे ढोकर ले जाऊँगा।'

'फिर भी यदि रास्ते में कोई मिल गया तो...!' उसने कहा।

'बाप रे बाप, इतना आतंक! यदि कोई परिचित आदमी देख ही लेगा तो दुनिया उलट जाएगी ?' मैंने मन ही मन कहा। लेकिन बोले कौन! ऐसे लोगों का ठिकाना ही क्या है! कुछ बोलूँ, तो जाने कब पीठ दिखाकर भाग निकलें!

मुझे हँसी-भरा एक मज़ाक सूझा। मैंने कहा—'तब एक काम करेंगे ? मेरा पैंट-शर्ट आप पहन लें और कुरता-धोती उतार दें, जिसे मैं पहन लूँगा। तब तो कोई नहीं पहचानेगा!'

इतना कहना था कि वह बच्चों-सी हँसी बिखेरता हुआ बोल उठा—'वाह, फुलपैंट पर भला गठरी कैसी लगेगी!'

'लगेगा जैसे कोई कलकत्ते से कमाकर आ रहा है।' मैंने कहा।

उसने मेरे तर्क से प्रभावित होकर अथवा मेरी आतुरता पर द्रवित होकर मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मैंने प्रसन्नतापूर्वक उसके माथे पर गठरी रखी और प्रस्थान किया।

गठरी रखते समय मुझे बड़ा विचित्र लगा। यदि सावधान नहीं रहता तो वह गठरी समेत मेरी देह पर गिर गया होता। रास्ता आधा किलोमीटर भी तय नहीं हुआ होगा कि उसकी देह पसीने से तर होने लगी और साँसें तेज हो गयीं। रास्ता काटने के लिए मैंने एक कहानी छेड़ रखी थी, किन्तु वह साथ देने में कष्ट का अनुभव करने लगा।

'भार तो अनुभव नहीं होता है ?' मैंने दयापूर्वक पूछा। इस सांत्वना से प्रोत्साहित होकर उसने कहा—'नहीं-नहीं। आप चिन्ता न करें। बचपन से अभ्यास नहीं है, इसीलिए आपको विचित्र-सा लग रहा होगा।'

उसने ठीक ही कहा। वह जैसे-तैसे रास्ता काटता गया और हाँफ-हाँफकर सवा घण्टे में मेरे साथ धरमपुर पहुँच गया।

अभी तक उसने भाड़े के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा था। उसकी इस मनस्विता से प्रभावित होकर मैंने उसे दो रुपयों के बदले पाँच रुपये दिये। वह चुपचाप वापस लौट पड़ा।

मेरे हृदय की भावना अब तक दबी पड़ी थी, जो सहसा बमक उठी। मैंने उसका हाथ पकड़कर उसे रोकते हुए कहा—'जाते कहाँ हैं! एक बात सुन लीजिये, तब जाइयेगा। आप मिथ्या प्रतिष्ठा और आडम्बर के कारण सारी सम्पत्ति नष्ट कर चुके है, फिर भी अपने हाथों काम करने में लाज आती है। यदि आपने श्रम की प्रतिष्ठा का अनुभव किया होता तो आज कुली का काम करने की नौबत ही नहीं आती। अब यदि पेट के लिए कुली का काम ही करना पड़ता है, तो इसे कुकर्म समझकर चोर की तरह नहीं, पवित्र काम समझकर प्रतिष्ठापूर्वक कीजिये। कहिये तो अभी ही मैं पाँच सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर आपकी लज्जा को तुरत धो-पोछ दूँ।'

इतना कहते ही वह मेरे पैरों पर गिर पड़ा। वह प्रार्थना करने लगा—'बाबू, मैं आरजू करता हूँ। इस बुढ़ापे में मेरी दुर्दशा न करें। मैं जली रस्सी हूँ। मेरी ऐंठन अब कदापि दूर नहीं

हो सकती, कदापि नहीं। मुझे माफ कर दीजिये। नये लोगों को कर्म की प्रतिष्ठा का ज्ञान कराइये, जो राष्ट्र-निर्माण में लगे हैं। मेरी चिन्ता मत कीजिये—मैं जली हुई रस्सी ठहरा, क्षण भर में मिट्टी में मिल जाऊँगा।'

मुझे दया हो आयी और मैंने उसका हाथ छोड़ दिया। वह जाल से छूटे हरिण-सा सरपट भागा। अच्छा हुआ कि उसने मुझे पहचाना नहीं। इस गाँव में जो उसके कुटुम्ब हैं, वह मेरे श्वसुर ही हैं। वह जिन नज़रों से बचना चाहता था, उन नज़रों ने उसके अंग-अंग की पहचान कर ली थी। इस जली रस्सी की एक-एक ऐंठन उसे सदा याद रहेगी।

मैथिली से मार्कण्डेय प्रवासी द्वारा अनूदित

भारत भाग्य विधाता

□ नृसिंह राजपुरोहित

एक छोटा-सा गाँव। बमुश्किल सौ-सवा सौ घरों की बस्ती। रेलवे स्टेशन यहाँ से बारह कोस दूर था। बस कहीं आस-पास से भी नहीं गुजरती। गाँव दो फसलों वाला होने से गाँव वालों को केवल नमक ही खरीदना पड़ता है। बाकी सब चीजें तो वहीं पैदा हो जाती हैं। गाँव में बहुत घी, बहुत दूध, कोठियों-भंडारों में गरम-ठंडा अनाज। राजा राज और प्रजा चैन। न कोई दुःख न कोई दुकाल। लोग ईश्वर से छिपकर दिन गुजार रहे थे।

लेकिन उस गाँव में एक नई बात हुई। वहाँ सरकारी स्कूल खुला। मानों भरे हुए तालाब में किसी ने पत्थर डाल दिया और पानी में लहरें उठ आईं। बूंद जितना गाँव। बात फैलते कोई वक्त लगता है!

···रामा पटेल के नोहरे में स्कूल खुलेगा—इस्कोल नहीं स्कूल! राज का मास्टर आया है—सरकारी अहलकार—माँग निकाले हुए—धारीदार ढीला-ढाला पायजामा और कुरता, आँखों पर चश्मा, तेवर जैसे मरखन्नी भैंस—ध्यान नहीं रखा तो अभी सींग घुसा देगा—बचकर रहना—राज का आदमी है भई...

राजा, जोगी, अगन, जल, इनकी उल्टी रीत
डरते रहना परशराम, थोड़ी पाले प्रीत...

चिलम भरने जितनी देर में गाँव के सब लड़के इकट्ठे हो गए। पानी जाती हुई पनि-

हारियों के पाँव थम गए और चिलम पीते अफीमचियों की चिलमें हाथों में रह गईं। देखते-देखते रामा पटेल का बाड़ा लबालब भर ही गया। काने घूँघट में नूरिया पिंजारे की बीवी चिमूड़ी बोली—

'एमा ! मास्तर के तो दाढ़ी-मूछ भी नहीं, बिल्कुल लड़का ही दिखता है।'

पास खड़ी वरजू भुआ को यह बात जँची नहीं। वह फटे बाँस जैसे भर्राए सुर में बोली—

'कोई गमी हुई होगी बिचारे के, जिससे सफाचट्ट हुआ है। बाकी लड़का तो कहने भर को है, बड़ा हट्टा-कट्टा है। गँवाई भैंसे जैसा !'

मास्टर मलूकदास, तीसरी पास और चौथी फेल था। बाप बचपन में ही मर गया था और माँ ने बेहद लाड़-प्यार रखा सो पूत बिगड़ गया। बहुत वर्षों तक तो कीर्तन मंडलियों में भर्ती होकर : 'झट जावो, चंदणहार ल्यावो—घूंघट नहीं खोलूंगी।' गाता और घुँघरू बजाता गाँव-गाँव फिरता रहा। पर भला हो भारत सरकार का जो मुल्क में पंचवर्षीय योजनाएँ शुरू हो गईं जिससे मलूकदास को भी बी. डी. ओ. ऑफिस में चपरासी की नौकरी मिल गई। मलूकदास, चपरासी मलूकदास बन गया।

भाग्य से उसकी ड्यूटी बी. डी. ओ. सा'ब के घर ही लगी। जितना वह नाचने-गाने में हुशियार था, उतना ही हाजरी बजाने में भी मुस्तैद था। सा'ब के पाँव दबाने से लेकर बीबीजी के पेट मसलने और बच्चों को नहलाने-धुलाने तक का चार्ज उसने अपने हाथ में ले लिया। और साल भर में तो बी० डी० ओ० सा'ब को गलाकर पानी-पानी कर दिया। एस० डी० आई० सा'ब की सलाह से, तिकड़मबाजी से, बंबई हिन्दी विद्यापीठ का सर्टिफिकेट कबाड़ कर देखते ही देखते चपरासी से मास्टर बन गया।

इस तरह पहले तकदीर खुली मलूकदास की और अब इस गाँव की।

बाड़े में भीड़ बढ़ती देखकर रामा पटेल ने खखारकर लड़कों की पल्टन की ओर देखकर कहा—

'बहुत दिन हुए हैं बेट्टों, धमालें करते। अब किमड़ियाँ उड़ेंगी तब मालूम पड़ेगा। पढ़ाई बड़ी मुश्किल है—घी निथारो छाछ, पूत सुधारो पोसाल !'

यह सुनते ही दो एक डरपोक लड़के तो हिरणों की तरह कान उठाकर चौकड़ी भर गए और साथ ही नंग-धड़ंग पलटन भी लटपट-लटपट करती हुई भागी। मानो चिड़ियों की पाँत उड़ी !

चिमूड़ी ही...ही...ही...कर हंसने लगी ही...ही...ही...ही ! मास्टर चश्मा उतारकर, आँखें गड़ाकर उसकी ओर देखने लगा। इतने में वरजू भुआ चिमूड़ी की ओर देखकर बोली—

'कोई छोटा गिने न कोई बड़ा और सारा दिन घोड़ी की तरह यह क्या ही-ही करना। औरत की जात है, थोड़ी बहुत तो लाज-शरम रखना चाहिए।'

इतना सुनते ही चिमूड़ी ने छाती तक घूंघट तान लिया और दूसरी औरतें भी सकपकाकर तालाब की ओर बढ़ गईं। मास्टर मलूकदास ने भी वापस चश्मा पहन लिया।

दूसरे दिन ही स्कूल का 'सिरी गणेश' हुआ। सरस्वती माता का मन्दिर है, खाली हाथ कैसे जाया जाए ? बालक-टोली सवा रुपया नकद और नरियल ले-लेकर हाजिर हुई। देखते-देखते नरियल का ढेर लग गया और पैसों से टेबल का दराज भर गया।

गाँव वालों ने मिलकर विचार किया—मास्टर परदेशी पंछी—अपने गाँव में आया है, कौन इसके पीसेगा और कौन पकाएगा। अकेला जीव है—सो पाँच की लकड़ी और एक का भार। लड़के जितने पढ़ने आते हैं, उनके हिसाब से बारी बाँध दी जाय। मास्टर घर-घर जाकर जीम लेगा और शाम-सुबह बारी-बारी से दूध का लोठा भी मँगवा लेगा।

इस तरह मलूकदास को मास्टरी फली सो फली। कहाँ तो वह बी० डी० ओ० के झूठे बरतन माँजकर रूखे-सूखे टुकड़े खाना और कहाँ यह साहबी भोगना। रोज समय पर खाने का न्यौता आ जाता। वह हल्दी लगे दूल्हे की तरह रोज बन-ठनकर नित नये घर जीमने पहुँच जाता। लड़कों के माँ-बाप सोचते महीने में एक ही बारी आता है, मास्टर को बढ़िया खिलाना चाहिए। 'खाए मुँह और लजाए आँख !' अपने लड़के पर पूरी मेहनत करेगा। इनके पढ़ाए हुए ही पटवारी और थानेदार बनते हैं। कौन जाने अपने लड़के की भी तकदीर खुल जाए।

इसीलिए जो माँए अपने बच्चों को छाछ बिलौने के दिन भी एक बूँद से ज्यादा घी माँगने पर डपटती थीं, वे ही बारी के दिन ताजे घी में तरमतर चूरमा परोसतीं। घर में तो बच्चे दूध की खुरचन के लिए तरसते पर मास्टर के लिए निखालिस दूध का लोठा गले तक भरकर समय पर पहुँच जातीं। थोड़े ही दिनों में मास्टर मलूकदास के शरीर पर सुर्खी आ गई। कपड़े-लत्तों में भी फर्क आ गया और आदतें भी खासी बदल गईं। धीरे-धीरे देसाई बीड़ी छोड़कर पनामा सिगरेट पीना शुरू कर दिया। वह सोचता, उम्र के पिछले दिन तो फोकट में ही गँवाए।

रामा पटेल के बाड़े में जहाँ स्कूल खुली थी, दो बड़े-बड़े झोंपड़े थे। उनमें से एक में स्कूल चलता और दूसरे में मास्टर रहता। बाड़े में बहुत बड़ा मैदान था, जिसके एक कोने में आवारा मवेशियों का एक 'कायन-हाउस' बना हुआ था। इसके आगे एक विशाल नीम खड़ा था। बाड़े में मास्टर के रहने से रामा पटेल को कायन-हाउस की परेशानी मिट गई। वार्ड पंच होते हुए भी पटेल 'ठोट' थे। इसलिए बाड़े में दाखिल पशुओं की रसीदें काटने की उन्हें भरपूर दिक्कत रहती थी। मास्टर के कारण उनकी यह दिक्कत मिट गई। मास्टर को रसीद बुक सौंपकर पटेल तो आज़ाद हो गए और मास्टर निहाल हो गया।

मलूकदास घाट-घाट का पानी पीया हुआ एक छँटी हुई रकम था। उसने देखा कि गाँव में तीन-चार आसामी ऐसे हैं जिन्हें 'फेवर' में रखना बहुत ज़रूरी है। वह यह सिद्धान्त भी अच्छी तरह जानता था कि मकोड़े गुड़ से खुश रहते हैं। इसलिए उसने नीम के नीचे चूल्हा बनाकर चाय का इंतज़ाम कर दिया। और पास में कुल्लड़ भरकर तम्बाकू भी रखवा दी। मकोड़ों को और चाहिए भी क्या ? दिन उगते ही जाजम जम जाती। हाँडी भरकर चाय उकलती, अफीम की मनुहारें होतीं और चिलमों से धूँए के गोले उठते। गाँव की भली बुरी बातें होतीं और आपसी झगड़ों की पंचायतें बैठतीं। दंड-जुर्माना होता और उसका हिसाब मास्टर को सौंपा जाता।

चाय की चुस्कियों और चिलम की फूँकों के बीच मकोड़े मास्टर की तारीफ के पुल बाँधते—'वाह रे मास्टर वाह ! है पूरा खानदानी आदमी।' दूसरा कहता : 'बस्ती के भाग हैं, जो ऐसा हीरा मिला है। नहीं तो इस ज़माने में ऐसा आदमी ढूँढे नहीं मिलता।'' तीसरा सहारा देता : 'दो बरस यहाँ रह जाएँ तो सब छोरे 'फिरंट' हो जाएँगे। मेरा पोता तो अब से ही अंगरेजी बोलने लगा है। मुझे कहता है—यू डेम फूल ! मैं कहूँ रे बचिया, फूल तो तू है, मैं तो

पका पान हूँ ।' बड़ा मकोड़ा भी नाक में गुनगुनाता 'क्यूँ नहीं सा, इंगरेजी बोलना बड़ा कठण है, मास्टर बड़ा विद्वान है। कित्ते तो इन्हें फलमी गाने आते हैं और कित्ते नाच आते हैं। मुँह से बाजा बजावे, जैसे बिल्कुल इगरेजी बाजा ! मेरा रामूड़ा भी थोड़ा-थोड़ा बजाना सीख गया। होठों के आगे खड़ी हथेली रखकर यूँ बजाता है बेट्टा-तूऊऽऽ तूऊऽऽऽ धड़मऽऽऽ थड़मऽऽऽ तूऊऽऽऽ ? छड़मऽऽऽ !' सभी मकोड़े एक साथ हँसने लगते : हा···हा···हा···!—हू···हू··· हू···! और नीम पर बैठे सभी पखेरू एक साथ उड़ जाते।

उनकी बातें और हा—हू सुनकर मास्टर झोंपड़े से बाहर आ जाता और कहता : 'काना पटेल अभी तुमने देखा भी क्या है ? तुम्हें असली फलमी गाने और इंगरेजी बाजे सुनने हों तो मेरी एक बात मानो सब गाँव वाले मिलकर एक पंचायती रेडियो और लोडस्पेकर ले आओ। उसे सँभालने की परेशानी रहेगी, पर खैर ये भी गाँव की सेवा है, सो मैं संभाल लूँगा। नीम की ऊँची डाल पर लोडस्पेकर बाँध देंगे, फिर देखना जो धमचक मचेगी, उसका मजा ! पूँगी (बीन) पर साँप लहरें लेता है। वैसे पूरा गाँव मस्त नहीं हो जावे तो मेरी मूछें मुँड़वा लूँ। पंचायत के दूसरे गाँव देखते ही रह जाएँगे। इस ज़माने में रेडियो गाँव का रूप है।'

मकोड़े गर्दन हिलाते और बोलते : 'बात तो आप लाख रूपे की कही सा, पर रामा पटेल माने तब है। उनको मनाना आपका काम, बाकी का सारा गाँव तो हमारी मुट्ठी में है। चाहे जो करा सकते हैं। और आगे जाकर रेडियो की बिसात क्या ? एक बैल का मोल ! गाँव के पंचायती रूपे आपके पास हैं ही। आप जोधपुर पधार कर रेडियो ले आओ। यहाँ बिराजो तब तक खूब गुँजाओ और बदली होकर पधारो, तब रेडियो आपका और आपके बाप का। गाँव की तरफ से आपको भेंट। आप हमारे ऊपर इत्ती मेहरबानी रखो हो कि हमारे बच्चों को जानवर से आदमी बनाते हो और हम कोई गए-गुजरे थोड़े ही हैं।'

और महीने भर में स्कूल में सचमुच ही रेडियो आ गया। असली फलीप्स रेडियो लोड-स्पेकर के साथ। पूरे गाँव में खलबली मच गई। एक अनोखी चीज़ गाँव में आई—जो चाबी फेरने से आदमी की तरह बोले !

अब रोज ही दिन उगने पर नीम पर से सारे गाँव में आवाज़ आने लगी : 'ये रेडियो सीलोन का व्यापार विभाग है—अब सुनिये मोहम्मद रफी को, दिल तेरा दीवाना में—'

'लाल-लाल गाल ! लाल-लाल गाल !'···और अब सुनिये एक बेहतरीन और दिलकश फिल्म 'प्यार की रात' में लता मंगेशकर को—

बिछिया मोरा छम-छम बाजै !
बिछिया मोरा छम-छम बाजै !

और खाट पर बैठा बीड़ी के कश खींचता मास्टर, नीचे बैठे चाय की चुस्कियाँ लेते मकोड़े, स्कूल के पीछे घर का काम-काज करती चिमूड़ी, पनघट पर पानी भरती पनिहारिनें, खेतों की ओर जा रहे युवक और गोबर थेपती किशोरियाँ—सारा गाँव एक साथ ही सिर हिलाकर गुनगुनाने लग जाता—

बिछिया मोरा छम-छम बाजे !
बिछिया मोरा छम-छम बाजे !

और उधर जानवर से मनुष्य बनने की कोशिश कर रहे लड़के आपस में बात करते हैं : 'ए बिरजू तेने यू कैसे बाल सँवारे रे ?'

'कैसे ?' स्लेट को थूक लगाते हुए, दूसरा बोला ।

'इधर मेरी ओर देख़ ! दोनों ओर गुफाएँ, बीच में फ़ूल और साथ में भँवरे । कैसे बढ़िया दिखते हैं ? माट सा'ब के ज्यूँ के त्यूँ हैं या नहीं ?'

'हुँ ! बालों में गुफाएँ हैं तो क्या हुआ बुसट्ट कहाँ है ? फटी अंगरखी, और बाल सँवार कर पधारे हो । मेरे बुसट्ट को देख, ऊपर फलमी आदमियों के फोटू हैं । माट सा'ब के टी-सट्ट पर भी ऐसे के ऐसे फोटू हैं ।'

'अरे जा, गावदी ! बड़ा आया बुसट्ट वाला । एक चिथड़ा करा लिया सो मिजाज बताता है । मेरा काका अहमदाबाद जायेगा तब मैं भी मँगा लूँगा । तेरे इस चिथड़े पर तो फलमी आदमियों के फोटू हैं और मेरे बुसट्ट पर फलमी लुगाईयों के फोटू होंगे । पर बेटा तुझे आज माट सा'ब मार डालेंगे !'

'क्यूँ ?'

'कल शाम को तेरी बारी थी और तू माट सा'ब के पाँव दबाने क्यूँ नहीं आया ? हम तो सब आये थे ।'

'अरे यार, माट सा'ब को याद मत दिलाना यार, अपन तो दोस्त हैं न यार !'

'तू तो तेरे बुसट्ट का मिजाज बताता था न, खैर ! अब पक्का दोस्त बनना हो तो एक काम कर ।'

'क्या ?'

'तेरे घर से एक रुपया ला कर मुझे दे ।'

'रुपया कहाँ से लाऊँ यार ! घर से मुझे लाने कौन देगा ? मालूम पड़ जाय तो काका मेरी टाट पोली कर दे यार !'

'धीरे बोल सस्साला !'

'तू रुपये का क्या करेगा यार ?'

'बीड़ी और माचिस लाऊँगा ।'

'तू पीता है बीड़ी ?'

'हाँ, हाँ, पीता हूँ, करले जोर ।'

'...लड़कों पहाड़े जोर-जोर से बोलकर लिखो रे । ऐ चौथिया, सिट डोन-सिट डोन ।'

...एक दू दू...दो दूना चार...दो दूना चार !

'बीड़ी में तुझे क्या मजा आता है यार ?'

'तू गावदी क्या समझे इस बात को । बीड़ी पीने में बहोत गुण हैं । देख एक तो बीड़ी पीने से मूछें जल्दी आती हैं । दूसरा बीड़ी पीने से ताकत बड़े और तीसरा ठाट कितना रहता है—अपटूडेट बने हो । यूँ दोनों उँगलियों के बीच बीड़ी पकड़ी हो, पहले लम्बी फूँक खींचकर धीरे-धीरे नाक से धूँआ निकालें, फिर मुँह ऊँचा कर और होंठ सिकोड़ कर तलवार कट मूछों के नीचे से फुऊऊऊऊ ! जैसे इंजन आया ।'

बुसट्ट वाला लड़का हँसता हुआ बोला, 'तलवार कट मूछें कैसी होती हैं यार ?'

'अपने मलूका माट सा'ब के कैसी हैं, दिखती नहीं ? पर मैं बड़ा हूँगा तब बंदूक कट रखूंगा, देख यूँ, फिर फु ऊ ऊ ऊ !'

बुसट्ट वाला लड़का स्लेट में सिर छिपाकर हँसने लगा ।

'हँसता क्या है रे बोफे ! बीड़ी में गुण नहीं होते तो ये बड़े-बड़े लोग क्यूँ पीते ?'

'अपने माट सा'ब तो सफेद बीड़ी पीते है यार !'

'अरे देखली मलूकिया मास्टर की सफेद बीड़ी, अपन काली पीएँगे। तू रुपैया तो ला दोस्त, फिर देख तुझे फिरंट बनाऊँ। बोल लाएगा ?'

'लाऊँगा।'

'पिता की ?'

'कसम।'

'मिलाओ हाथ माई डियर—यू डेम फूल !'

'अरे आज दूध का लोठा क्यूँ नहीं आया रे ? किसकी बारी है ?'

'आज राजिया की बारी है सा।'

'स्साला राजिये का बच्चा ! दूध क्यूँ नहीं आया रे ?'

'आज भैंस गुम हो गई सा, मेरी माँ ढूँढ़ने गई है।'

'भैंस पड़ी कुएँ में और ऊपर से पड़ी तेरी माँ। दूध टेम पर आना चाहिए। नहीं तो मार-मार कर टाट पोली कर दूँगा।'

रोज का एक लोठा तो महीने के तीस लोठे। वर्ष के महीने होते हैं बारह, और तीन वर्ष के छत्तीस। दिन जाते कोई देर लगती है। तीन वर्ष बीत गए। मलूकदास के पेट में गाँव का कई मन दूध और घी पहुँच गया।

लेकिन मास्टर मलूकदास भी अहसानफरामोश नहीं था। उसने गाँव से जितना लिया, उससे भी बेशी वापस दे दिया। लिया उसकी कीमत तो उसकी पंडिताई ही थी, लेकिन दिया उसकी पहुँच पीढ़ियों तक थी। स्कूल के लड़के दो दूनी चार से आगे तीन दूनी छः भले ही नहीं सीख पाए हों, पर बीड़ी पीना, चोरी करना, फूहड़ बोलना और इधर-उधर करना अच्छी तरह सीख गए। घट्टी फेरते हुए हरजस (प्रभाती) तो बन्द हो गई और फिल्मी गीत गूँजने लगे—'अखियाँ मिलाके, जिया भरमाके, चले नहीं जाना हो, हो चले मत जाना।' गाँव में दो-चार मुकदमे भी दायर हो गए, जिससे लोग-बाग कई दफ़ाओं के जानकार हो गए। कहने का मतलब यह कि गाँव का काफी सांस्कृतिक विकास हो गया।

लेकिन इतना लेने के बाद भी गाँव वालों को संतोष न था। अज्ञानता के कारण लोग भीतर ही भीतर चख-चख करने लगे—

...मास्तर हर साल खेती कराता है। टका एक खरच नहीं करता और कई मन अनाज मुफ्त में कबाड़ लेता है।

...मास्तर पाऊडर का दूध बेच देता है और बच्चे टापते रह जाते हैं।

...मास्तर एस० डी० आई० को घी की पव्वियाँ पहुँचाता है और बी० डी० ओ० आता है तब दारू की बोतल तैयार रखता है।

...मास्तर अहलकारों से मिलकर सीमेंट और चद्दर के झूठे परमिट कटाता है और ऊपर ही ऊपर पैसे खा जाता है।

...मास्तर पंद्रह दिन रोता फिरता है और बच्चों को एक अक्षर भी नहीं पढ़ाता है।

...मास्तर गाँव में फूट डालता है और मुकदमेबाजी कराता है।

...मास्तर नूरिया पिंजारे के यहाँ रात-बिरात जाता है और आधी-आधी रात तक बैठकें करता है और बेशरम चिमूड़ी ही-ही कर हँसती रहती है और वह सिगरेटें फूँका करता है ।

रामा पटेल की जान को बवाल हो गया । उसने अपने हाथों से गाँव में कैसा दुःख ढाया है । सोई बैठी बुढ़िया और घर में बाँधा घोड़ा ! ऐसा मालूम होता तो स्कूल के नाम पर फावड़े-फावड़े धूल डाल देते । ऐसी पढ़ाई के बजाय गाँव के लड़के 'ढोर' रह जाते, तो भी ठीक था । भेड़ पाली ऊन को और वह भी चरे कपास ! जूते सुख के लिए पहनते हैं । दौड़-धूप कर स्कूल खुलवाया, तो इसलिए था कि गाँव के लड़के पढ़-लिखकर हुशियार बनेंगे और गाँव का सुधार होगा । लेकिन यह तो गजब सुधार हुआ । अब करना तो क्या करना ? यह तो अजब देन हुई ?

तीन वर्ष में बच्चों की संख्या घटते-घटते चार-पाँच हो गई । वे भी मर्जी होती तब जाते और मर्जी होती तब छुट्टी मना लेते । स्कूल तिकड़मबाजी का अड्डा बन गया । गाँव में दो मजबूत पार्टियाँ बन गईं । होते-होते एक दिन ऐसा आया कि आपस में भिड़न्त हो गई । लाठियाँ बजीं और दो-तीन के सिर फट गए । कहते हैं कि घर तेलियों के जलते हैं, तब चूहे भी साथ में भुर्ता हो जाते हैं, सो मास्टर मलूकदास भी लपेट में आ गया और बैलों के कंधों पर चढ़कर अस्पताल पहुँचा ।

रात बीती और दिन उगा । आज स्कूल का झोंपड़ा सूना पड़ा था । और लगातार तीन वर्ष से बोलता हुआ लोडस्पेकर मुँह लटकाए हुए नीम पर चुपचाप पड़ा था । नीम की फुनगी पर बैठा हुआ एक गिद्ध आँखें मूँदकर और गर्दन झुकाकर बैठा था । नीम के नीचे चाय वाली हाँडी औंधी पड़ी थी और चूल्हे की राख में एक खुजली वाला कुत्ता सोया था ।

राजस्थानी से टी० एस० राव राजस्थानी द्वारा अनूदित

झूठी आस

□ विजयदान देथा

ज़मीन और आकाश के दरमियान किसी पहाड़ी पर एक ठाकुर का गढ़ था। बाँसों ऊँचा कँगूरेदार चौड़ा परकोटा। चारों कोनों में बड़ी-बड़ी बुर्जें। बीचो-बीच तिमंजिला गढ़। क़दम-क़दम पर कारिन्दे। मुसाहिबों की इफ़रात। रूप का रसिया मनमौजी ठाकुर। चढ़ती जवानी। चौगुना नशा।

आलापचारी और 'सुभराज' करने के लिए ढोलियों की बारी बँधी हुई थी। हर पूनम पर ढोली बदल जाता। परभाती की मीठी तान पर ठाकुर बिस्तर छोड़ता। 'सुभराज' करने के बाद ढोली झुककर 'खम्माघणी' करता। मनमौजी ठाकुर पर कब कौन-सी धुन सवार हो जायेगी, कोई नहीं जानता था। कभी राजा कर्ण बन जाता। कभी एकदम मक्खीचूस। कभी माँगने पर खुश होता। कभी न माँगने पर बिफर जाता। लताड़ने लगता कि बहुत 'मैं' आ गई है। माँगते शर्म आती है ! बिना कहे तो माँ भी दूध नहीं पिलाती। उसकी इस सीख को मानकर अगर कोई ढोली घड़ी-घड़ी याचना करता तब भी बेचारा मारा जाता। वो लानत-मलामत करता कि साले ढोलियों ने शर्म बेच खायी है। न लाज न शऊर। बेहया की तरह वक्त-बेवक्त बस माँगना ही माँगना। अगर माँगने से ही मंशा पूरी हो जाती हो तो ये रियासतें व जागीरें ढोलियों को नहीं मिल जातीं ? जैसी मालिक की मरज़ी। जाने कब क्या मौज आ जाये ! टोके कौन ? उनकी हर बात सर-आँखों पर।

एक दफा अलमस्त ठाकुर पर राम जाने क्या ख़ब्त सवार हुई जो उसने ठिकाने के तमाम ढोलियों को इकट्ठा किया।

इजलास जुड़ते ही 'सुभराज' कर रहे ढोलियों को टोक कर कहने लगा, 'दुनिया की सारी अक़ल तुम्हारे ही हिस्से में आ गई लगती है ?'

सब ढोली हाथ जोड़ कर बोले, 'क्या क़सूर हुआ अन्नदाता ?'

ढोलियों के जत्थे पर बलग़म थूककर वो आगे कहने लगा, 'क़सूर कोई एक हो तो बताऊँ। पीढ़ियाँ बीत गईं तुम्हें इस तरह ठगते हुए। हमें ध्यान न रहा तो क्या, तुम्हें तो पूरा ध्यान रखना था। बताओ, रखना था कि नहीं ?'

'हुज़ूर फ़रमाते हैं तो हमें ज़रूर ध्यान रखना था।'

'बताओ, ध्यान न रखने की अब तुम्हें क्या सज़ा दें ?'

सब एक साथ हाथ जोड़कर बोले, 'जो सरकार की मरज़ी।'

वो मुस्कराया। कहने लगा, 'पिछला हरजाना तो तुम क्या दे सकोगे ! जाओ, माफ़ किया। आयंदा ख़याल रखना। हमें भी आज पहली दफा ख़याल आया कि तुम फ़क़त अपने मतलब की चीज़ें ही माँगते हो। कंकर-पत्थर, लीद, मिट्टी, राख या कचरा तो कभीं नहीं माँगा। जवाब दो। माँगा कभी ?'

खम्माघणी, खम्माघणी से इजलास गूँज उठा। ढोलियों का मुखिया बोला, 'ग़रीबनवाज़' बड़े लोगों से तो बड़ी चीज़ें ही माँगी जाती हैं। ये छोटी चीज़ें तो ठौर-कुठौर बहुत पड़ी रहती हैं।'

'हाँ, यह बात तो तुम्हारी बिलकुल सही है। बड़े लोग तो बड़े लोग, तुम कमीन-कारू छोटे ग़ुलामों से भी बड़ी चीज़ें ही माँगी जाती हैं। रूप, जोबन...समझे कि नहीं।'

'समझ गये अन्नदाता। पर इसमें मालिकों के कहने की क्या ज़रूरत है। हम बिना कहे ही हाजिर कर देते हैं,

यह सुनकर वो काफ़ी देर तक हँसता रहा। उसके साथ मुसाहिब, कारिन्दे व टहलुए भी जबरन हँसते रहे। वो हँसते-हँसते बोला, 'बातें बनाना कोई तुमसे सीखे। जाओ, तुम सबको माफ़ किया। अब कभी तुम पर नाराज़ नहीं होंगे। पर बिना माँगे ही, जो तुम्हारे पास नायाब चीज़ हो, पेश करते रहना।'

'जो हुक्म अन्नदाता।'

ठाकुर के हुक्म से अमलों ने सबको दिल खोलकर छुहारे, बतासे और गुड़ बाँटा। दारू की एक-एक बोतल मिली सो अलग से। ठाट से इजलास जुड़ा और ठाट से खत्म हुआ।

दूसरे दिन बारी वाला ढोली वक्त पर आकर परभाती गाने लगा। पर ठाकुर को तो जब उठना था तभी उठा। करीब तीन घड़ी दिन चढ़ गया था। ढोली ने खड़े होकर 'सुभ-राज' की।

ठाकुर ने उसे पास आने का इशारा किया। उसके पास आने पर धीरे से बोला, 'रात वाली चीज़ तो खूब थी ! पता नहीं, कीचड़ में ऐसा कमल कैसे पैदा हुआ ?'

'कमल तो कीचड़ में ही पैदा होता है, अन्नदाता।'

बड़े लोगों की बड़ी बातें। दो टूक सवाल किया, 'वह छोरी तेरे क्या लगती है ?'

'भतीजी, अन्नदाता।'

'भतीजी ! हम तो भानजी समझे थे । तेरे बेटियाँ कितनी हैं ?'

उसने नज़र नीची करके जवाब दिया, 'तीन । पर अभी काफ़ी छोटी हैं, गरीबपरवर ।'

वो दया का सागर था । मुस्कराते हुए बोला, 'खिलाने-पिलाने का पूरा ध्यान रख । छोरी और मलबे को बढ़ते क्या देर लगती है ! घी, गुड़ व नारियल के लिए संकोच मत करना । चिकनाई बढ़ती है । तुम लोगों के लिए ठिकाने के भंडार हर वक्त खुले हुए हैं । किसी चीज़ के लिए हमने कभी मना किया है तुम्हें ?'

'नहीं अन्नदाता । हुज़ूर के मना करने से यह आकाश गिर न पड़ेगा !'

सहसा दानवीर ठाकुर को एक नई बात याद आ गई । तेज़ी से बोला, 'तूने वे फटी जूतियाँ बदली कि नहीं ?'

वो झिझकते हुए बोला, 'नहीं अन्नदाता । अभी तक तो उन्हीं से काम चला रहा हूँ ।'

वो बहुत नाराज़ हुआ । कहने लगा, 'अभी तक चला रहा है ! हमने उस दिन इतना कहा, तब भी अक्ल नहीं आई । इससे ठिकाने की कितनी भद्दी लगती है ! फिर हमारे कहने का क्या बना ? हमारी बात की यही इज़्ज़त करते हो तुम ! तुम नीचों की बेशरमी भी बस !'

वो उसके चरण छूकर बोला, 'यह बेशरमी नहीं, लाचारी है अन्नदाता । खाली मुट्ठी कहीं कुछ नहीं मिलता, अन्नदाता ।'

'तो हमें कहा क्यूँ नहीं ! हमारी जोड़ी तेरे ठीक आती है कि नहीं ?'

'आती है अन्नदाता ।'

'फिर चुप काहे को रहा ? मुँह में क्या मूले उगे थे । जा, हमारी यह नई जोड़ी तुझे इनायत की ।'

'खम्माघणी अन्नदाता । पर तार-तार हुई इस अँगरखी के साथ ये सुरंगी जूतियाँ अच्छी नहीं लगेंगी ।'

मनमौजी ठाकुर की सनक । बोला, 'हाँ, इसका तो हमें ध्यान ही न रहा । खूँटी पर से हमारी अँगरखी उतार ले । पर पगले, इस रेशम की अँगरखी पर साफे का यह चिथड़ा कितना बुरा लगता है ! जा, यह साफा भी तुझे बख़्शिश किया । हमें तुम लोगों का कितना ख़याल रहता है । तुम ज़बान से न कहो, उसका तो हमीं क्या करें ! और भी कोई इच्छा हो तो मन में मत रखना । सच बताना, आज मुँह किसका देखा था ?'

इतनी मेहर के बाद वो कब चूकता ! हाथ जोड़कर जवाब दिया, 'हुज़ूर के तलवों के दरसन हुए थे, अन्नदाता । फिर कैसी कमी ! आज तो मेरा जीवन सफल हो गया ।'

'हमारे तलवों का ऐसा चमत्कार तो नहीं जाना था ।'

'परतख को प्रमाण क्या, अन्नदाता !'

'अगर आज तू हमारा मुँह देख लेता तो ?'

'फिर चाहिए ही क्या था, ग़रीबनवाज़ ! मेरी सात पीढ़ियाँ तर जातीं ।'

आज ठाकुर पूरे रंग में था । उसी रौ में कहने लगा, 'हमारे तलवे मुँह से कम नहीं हैं । तू इन्हें मुँह ही समझना । और कोई इच्छा हो तो बोल ।'

मनमौजी ठाकुर की सनक का क्या भरोसा ! चूके कि गये । कोहनी तक हाथ जोड़ कर अरदास की, 'थोड़ी बाजरी और थोड़े घी-गुड़ की मेहर हो जाये अन्नदाता, फिर मुझे कुछ नहीं चाहिए ।'

'क्यूँ नहीं चाहिए। यह ठिकाने की दौलत मरने पर साथ तो चलेगी नहीं। जो हाथ से दान करूँ वो हमारा है। तुझसे जितनी उठे, बाजरी की गठरी बाँध ले। पाँच सेर घी और पाँच सेर गुड़ कारिन्दा तेरे घर पहुँचा देगा।'

'अब कुछ नहीं चाहिए, अन्नदाता। आज तो मुझे जैसे स्वर्ग मिल गया।'

'और किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो मन में मत रखना।'

'नहीं अन्नदाता। यह तो मेरा घर है।'

आज तो हुज़ूर का हाथ खूब ही खुला। पर ज़्यादा खींचने से टूटती है। अगर यह सनक वापस पलट गई तो लेने के देने पड़ जायेंगे। अब तो सही-सलामत घर पहुँचने में ही ख़ैरियत है। ठाकुर की इजाज़त मिलते ही उसने घर की राह ली।

पति के सर पर बजरी की बड़ी गठरी और कारिन्दे के हाथ में घी व गुड़ देखकर भी ढोलन को अपनी आँखों पर यकीन नहीं हुआ। तब ढोली ने उसे ब्यौरेवार सारी बात सुनायी। औरत तो औरत ही होती है। कहाँ तो देखकर भी यकीन नहीं आया और कहाँ सारी बात सुनने के बाद अपने करम ठोंककर अफ़सोस करने लगी। आह भरते हुए बोली, 'ऐसा मौका भी भला कोई हाथ से जाने देता है! आधा ठिकाना भी माँग लेते तो अन्नदाता मना नहीं करते। पर अब हो ही क्या सकता है! भले आदमी, मेरे लिए कंगन या हार ही माँग लेते। जब हुज़ूर ने बार-बार माँगने को कहा तो तुमने मुँह क्यूँ सी लिया। आज तो जो माँगते वो ही मिलता। और कुछ नहीं तो सौ मोहरें ही माँग लेते। हमें माँगने में शर्म कैसी! अन्नदाता इंकार करते तो उनकी शान जाती। भगवान जाने तुम्हें अक्ल कब आयेगी?'

घरवाली के नाराज़ होने से उसे यह एहसास हुआ कि वाकई उससे बहुत बड़ी ग़लती हो गई। हाथ लगी चीज़ों की खुशी की बजाय उसे छूट गए माल का दुख ज़्यादा हुआ। अगर गले की ज़ंजीर और हाथों के कड़े माँग लेता तो पीढ़ियों का दिवाला दूर हो जाता। हीरे जड़ी अँगूठी के लिए हुज़ूर मना थोड़े ही करते! फिर किस चीज़ की कमी। पक्का अड़ार बन जाता। एक गाय खरीद लेता। घर के दूध-दही का क्या कहना! माँगने से छाछ भी कितनी मुश्किल से मिलती है। चुपड़ी रोटी का तो स्वाद ही भूल गया। अपनी नादानी से सुनहरा मौका खो दिया। किसे दोष दे! पर अब पछताने से फ़ायदा! कमान से छूटा तीर फिर हाथ थोड़े ही लगता है! बहुत भारी ग़लती हो गई। हुज़ूर ने बार-बार अपनी मंशा दरसाने को कहा, पर जाने उसकी अक्ल कहाँ घास चरने गई थी। अन्नदाता का ऐसा स्वभाव तो नहीं जाना था! आज तो जैसे हुज़ूर का अंतस ही बदल गया हो!

वो आज तक इतना बड़ा हाथ नहीं मार सका था और न ही किसी जाचक की ऐसी मनचाही हुई थी। फिर भी उसकी चिन्ता का कोई पार नहीं था। अच्छी तरह से रोटी भी गले नहीं उतरी। ऐसे नायाब मौके पर भी अगर मुँह से बोल नहीं निकले तो यह मुँह फिर है किस लिए! फ़कत पका-अधपका अनाज ठूँसने के लिए। भला, ढोलियों को ऐसे लजालू मुँह कब शोभा देते हैं! गुस्सा तो ऐसा आया इस नामुराद मुँह में जगमगाते अंगारे ठूँस दे। जिसकी तक़दीर ख़राब हो, उसके लिए भगवान भी कुछ नही कर सकता। आयंदा ऐसा मौक़ा मिलने पर आधी या तिहाई जागीर ही मांगेगा! देखें, हुज़ूर कैसे मुकरते हैं?

बीती का सोच और आगत की आस ने ऐसा ताना-बाना बुना कि काफ़ी रात तक उसकी आँख नहीं लगी। और जब लगी, तब भी वही सपने। मूँछों को ताव देता वो मखमल के

सिन्दूरी गद्दे पर बैठा है। सामने सोने की परात में मोहरें चमचमा रही हैं। ढोली ढोल बजा रहे हैं। 'सुभराज' कर रहे हैं। जो भी दरसन के लिए आता है, खम्माघणी करने के बाद मोहरें नज़र करता है। आनन-फानन में परात भर गई। मोहरें बाहर गिरने लगीं। दूसरी परात आई तब तक ढोलन ने उसे झकझोरकर आवाज़ दी। वो उस पर बरस पड़ा, 'साली चंडूल ! इतनी क्या जल्दी थी ! हज़ारों मोहरों का नुकसान करवा दिया।'

अब कहीं उसे चेत हुआ कि वो सपना देख रहा था। झेंपता हुआ उठा। आलापचारी का वक्त हो गया था। सारंगी उठाई और मुँह धोये बिना ही गढ़ की ओर तेज़ कदमों से चल पड़ा। ज़ीने पर चढ़ते ही उसे एक छोरी नीचे उतरती नज़र आयी। अँधेरे में पहचाना नहीं। पूछा, 'कौन है ?'

धीमी आवाज़ सुनाई दी, 'मैं।'

वो तुरंत पहचान गया। यह उसकी भतीजी थी। सब कुछ जानते हुए भी उसके कलेजे में एक लपट-सी उठी। आगे किसी ने कुछ नहीं पूछा। वह सर झुकाये चुपचाप नीचे उतर गई और वो भी नज़र नीची किये चुपचाप ऊपर चला गया। रंगमहल के दरवाज़े के पास बैठकर परभाती गाने लगा।

आज हुज़ूर की आँख जल्दी खुल गई। एक घड़ी दिन ही मुश्किल से चढ़ा होगा। ढोली की तक़दीर कि पहले-पहल हुज़ूर का मुँह देखा। आज किस्मत खुल गई समझो। खड़े होकर ज़ोर से 'सुभराज' की। फिर खम्माघणी करने के बाद कोहनी तक हाथ जोड़कर बोला, 'ग़रीब-परवर, मुझे कल तलवों के दर्शन ने ही निहाल कर दिया था, पर आज तो सूरज को भी सात दफा मात करे, जैसा मुँह देखा है। फिर मेरे सभाग का क्या कहना !'

ठाकुर ने दो-एक जम्हाइयाँ लीं। फिर बदन मरोड़ते भारी आवाज़ में बोला, 'तब तो राणा आज तेरी किस्मत है। तलवों से तो मुँह अच्छा ही होगा।'

'हज़ार दफा अच्छा होगा, अन्नदाता।'

ठाकुर कुछ सोचकर बोला, 'तो आज यह भी आज़मा देखें। हड़बड़ी में तुझसे कुछ ढंग-सर माँगा नहीं जायेगा। जा, तुझे पूरे दिन की मोहलत दी। अच्छी तरह सोच-समझकर शाम को जो तेरी इच्छा हो माँगना। कोई चीज़ मन में मत रखना। इस बार भी संकोच किया तो फिर हमें मत कहना।'

हुज़ूर के मुँह का तो चमत्कार ही अलग। चिपते ही मनचाही हो गई। घरवाली से सलाह-मशविरा करने से ज़रूर कोई बड़ी बात सूझेगी। कल का उलाहना अभी तक कलेजे में खटक रहा है पर अब तो पिछली सारी कसर निकाल लेगा। फूटे करम के कभी-कभी यों कारी लगती है।

वो इस तरह हवा में उड़ता हुआ घर पहुँचा जैसे उसे कोई तख़्त मिल गया हो। मस्ती में सारंगी के तारों को छेड़ता, घरवाली के मुँह की ओर देखता बोला, 'अब भी मुँह लटकाये रहे तो तेरी मरज़ी। आज तो अपने भाग खुल गये। सारा दिन सामने पड़ा है। हज़ार दफा सोच-समझकर बताना कि शाम को अन्नदाता से क्या माँगूँ ?'

बात का मरम उसके कुछ पल्ले नहीं पड़ा तो उसने सारी बात तफ़सील से बताई। फिर उसकी खुशी का क्या पार ! दरवाज़ा उढ़काकर दोनों मियाँ-बीवी कानाफूसी करने लगे। आज दिन तक किसी की तक़दीर इस तरह पूछकर नहीं खुली होगी। अपनी मरज़ी से माँगने का

मौका ही कहाँ मिला था। वो बोला, 'थोड़ा हिस्सा रखकर किसी बनिये से राय ले लें तो ठीक रहेगा। बनिये की बराबरी कोई नहीं कर सकता।'

'तुम तो बिलकुल फ़िज़ूल बात करते हो। हमारे भी दो आँखें हैं। हमें भी वैसा ही दिखता है। बेकार हिस्सा क्यूं दें ! साँप और बनिये का क्या भरोसा ! किसी मुसीबत में डाल दिया तो ?'

फिर वही ढाक के तीन पात। उलझन थी कि कम होने पर ही न आती थी। कभी सोचते कि समूचा गहना माँग लें। कभी सोचते कि ज़रखेज़ खेत माँग लें। खूब धान बरसेगा कभी सोचते कि गढ़ माँग लें। पर बिना जागीर के गढ़ किस काम का ! तब ढोलन के दिमाग में सहसा एक बात कौंधी कि आधी जागीर माँगने से सारे झंझट मिट जायेंगे। जागीर के बल पर ही यह गढ़, ये गहने और ये सारे ऐशो-आराम हैं। माँगने की पूरी आज़ादी मिलने पर पीछे क्यूं रहना। फ़क़त ज़बान ही तो हिलानी पड़ेगी।

ढोली कुछ सोचकर बोला, 'ऊं हूं, आधा ठिकाना माँगने से काम नहीं चलेगा। राड़ आड़ी बाड़ भली। तू जानती नहीं, ठाकुर और छुटभैयों में रोज़ कितने झगड़े होते हैं। फिर बराबरी के ठाकुर से हम कैसे निबटेंगे ! माँगना हो तो पूरा ठिकाना ही माँगें।'

ढोलन को थोड़ी दया आ गई। बोली, 'फिर बेचारे ठाकुर का क्या होगा ? जब अन्नदाता ने हम पर इतनी मेहर की है तो हमें भी उनके भले-बुरे का पूरा ख़याल रखना चाहिए।'

वो असमंजस में पड़ गया। होंठ चबाकर बोला, 'आधा ठिकाना माँगने से तो एक गुत्थी और उलझती है। फिर ठकुरानी साहिबा किसके साथ रहेंगी ?'

यह बचकानी बात सुनकर ढोलन को हँसी आ गई। हँसते-हँसते ही बोली, 'तुम्हारी अक्ल ज़ंग खा गई है। कहीं और ऐसी बात मत करना, लोग हँसेंगे। आधा ठिकाना मिलने पर तो मैं आप ही तुम्हारी ठकुरानी हो जाऊँगी। तुम ठाकुर और मैं तुम्हारी ठकुरानी। अब तो आधे ठिकाने से कम कुछ मत माँगना। ऐसा न हो कि तुम ऐन वक्त पर लिहाज़ कर जाओ। न हो तो मैं तुम्हारे साथ चलूं ?'

वो संजीदगी से बोला, 'ना, साथ चलने की ज़रूरत नहीं। इतना समझाने के बाद मैं पीछे नहीं रहूँगा। मैं इतना बेवकूफ नहीं हूँ।'

कल चिंता के मारे उन्हें भूख नहीं लगी थी और आज आधे ठिकाने की खुशी में उन्हें खाने का ख़याल न रहा।

इस तरह मंसूबों के झूलों पर झूलते हुए आखिर शाम हुई। ढोली खुशी-खुशी घर से रवाना हुआ। सिर्फ जबान से कहने से ही आधा ठिकाना हाथ लगता हो तो फिर माँगने में शर्म कैसी ? यह तो उसका बड़प्पन है कि वो हुज़ूर के लिए आधा ठिकाना छोड़ रहा है। कि इतने में उसे ठिकाने के उम्दा घोड़े पर ठाकुर साहब आते दिखे। ठाकुर की बजाय उस घोड़े का रौब उस पर ज़्यादा ग़ालिब हुआ। घोड़े पर बैठते ही आदमी की शख़्सियत कितनी बदल जाती है ! आधा ठिकाना माँगने वाले को पैदल चलना शोभा नहीं देता। आधा ठिकाना माँगने से पहले घोड़ा माँगना ठीक रहेगा। इससे हुज़ूर के मन का पता भी चल जायेगा। एक दफा क़ब्ज़े में आने के बाद वो न तो किसी को घोड़ा बख़्शिश करेगा, न ठिकाना।

पास आने पर ठाकुर ने घोड़ा रोका। मुँह के दरसनों का करिश्मा तो दिखाना ही था।

'सुभराज' के बीच ही में उसने पूछा, 'खूब अच्छी तरह सोच लिया न ? बोल, क्या माँगता है ?'

अब उसके मन में किसी तरह का कोई अंदेशा न रहा। लपककर घोड़े की लगाम पकड़ी। घोड़ा ज़ोर से हिनहिनाया। हिनहिनाना बंद होते ही वो बोला, 'पहले यह घोड़ा इनायत करें तो फिर अगली माँग करूँगा।'

ठाकुर ने अचरज से पूछा, 'घोड़ा ! यह हमारी पसंद का घोड़ा है। हम इसकी छाया की ओर भी किसी को देखने न दें। सारे दिन सर खपाकर तूने यह बात सोची ?'

वो हठ करते हुए बोला, 'नहीं अन्नदाता, यह घोड़ा तो आपको देना ही होगा। आपने वादा किया था।'

ठाकुर को ज़रा तैश आ गया। चाँदी की मूठ घुमाकर कहने लगा, 'हमने वादा किया तो क्या ? तू अपनी औक़ात भूल जायेगा ? तेरी इतनी मजाल ! बुज़ुर्गों का कहा कभी ग़लत नहीं होता कि कुत्ते और शूद्र पुचकारने से इतरते हैं। कहीं तेरा दिमाग तो नहीं फिर गया ?'

वो तब भी टस-से-मस नहीं हुआ। लगाम खींचते हठ करने लगा, 'अब यह घोड़ा तो मैं हरगिज़ नहीं छोड़ूँगा। तड़के सरकार का मुँह देखा था। क्या मेरी इतनी-सी आस भी पूरी नहीं होगी ?'

ठाकुर का ख़ून खौल उठा। गुस्से से दाँत पीसते हुए बोला, 'मुँह देखा तो क्या हुआ, तुझे माँगने का शऊर होना चाहिए। हरामज़ादे, तेरी इतनी हिम्मत ! लगाम छोड़, वरना तेरी खाल खींच लेंगे।'

जागीर तो जैसे आई, वैसे ही चली गई ! उसकी आँखों के आगे कोहरा छा गया। दिन भर सोचने का आख़िर यह नतीजा निकला। पर थोड़ा अड़े रहने पर हुज़ूर घोड़ा तो बख़्शिश कर ही देंगे। कल आप ही कैसे मेहरबान हुए थे और आज माँगने पर भी ठस-के-ठस बने हैं। यह कहाँ का इंसाफ़। उसने दोनों हाथों से लगाम कसके पकड़ ली और सर धुनते बोला, 'लगाम तो मैं मरते दम तक नही छोड़ूँगा।'

उसके इतना कहते ही ठाकुर छड़ी से उसकी पीठ धुनने लगा।

पर बेहद ताज्जुब कि उसने चूँ तक नहीं की। धीरे से लगाम छोड़कर, ठाकुर की ओर देखकर मुस्कराने लगा। ऐसी मुस्कान ठाकुर ने आज दिन तक रिआया के होठों पर नहीं देखी थी। वो मुस्कान तीन लोक से न्यारी थी। उसने पूरी ताकत लगाकर दो-तीन छड़ियाँ और मारीं। बोला, 'चंडाल, अभी भी तू बेशरम की तरह बत्तीसी निकाल रहा है !'

वो अपनी जगह से एक अंगुल भी इधर-उधर नहीं हुआ। मुस्कान बिखेरते बोला, 'बत्तीसी न निकालूँ तो रोऊँ किसको अन्नदाता ?'

अन्नदाता ने पल की भी उधार न रखी। फ़ौरन ज़वाब दिया, 'रो अपने पुरखों को।'

'बेचारे पुरखों का इसमें क्या क़सूर है ? रोऊँगा तो अपनी अक़ल को, जो हुज़ूर से ऐसी उम्मीद रखी। पर यह मार भी कम नेमत नहीं है। सरकार न थकें तब तक मारे जायें। इस मार का ऐसा परताप तो नहीं जाना था !'

यह सुनकर ठाकुर का हाथ जहाँ का तहाँ रुक गया। गुस्से और अचरज मिले सुर में पूछा, 'तू क्या उलटी-सीधी बातें कर रहा है ? कहीं पागल तो नहीं हो गया ?'

वो कोहनी तक हाथ जोड़कर कहने लगा, 'अन्नदाता पागल होने की बात कर रहे हैं और मुझे लगता है कि मैं आज उम्र में पहली दफा होश में आया हूँ। यह छड़ियों की मार तो

कल, परसों या ज़्यादा से ज़्यादा पाँच दिन चरमरायेगी, पर पीढ़ियों का भरम व अज्ञान तो इसी पल भस्म हो गया कि फ़क़त माँगने से कभी कुछ नहीं मिलता। इस ज्ञान की कीमत इस घोड़े से बहुत ज़्यादा है। अन्नदाता के ठिकाने से भी ज़्यादा। इस ख़ातिर उम्र भर हज़ूर का एहसानमंद रहूँगा।'

ठाकुर मुस्कराया। बोला, 'और यह धुनाई?'

ढोली के होठों पर भी ठाकुर से कम मुस्कान नहीं थी। कहने लगा, 'अन्नदाता जिसे धुनाई कहते हैं वो मेरे लिए नये ज्ञान की नई रोशनी है!'

राजस्थानी से कैलाश कबीर द्वारा अनूदित

भूल सुधार

समकालीन भारतीय साहित्य के अक्तूबर-दिसम्बर अंक में श्री भालचन्द्र नेमाड़े की कविता 'अनायास शरीर पर के दाग़...' के साथ ग़लती से कवि का नाम नहीं जा पाया। यह कविता श्री दिलीप चित्रे की कविता के साथ क्रम में छप गयी, जिसके लिए हमें खेद है। —**संपादक**

□ पद्मा सचदेव

तस्वीर

जिसे मैं बार-बार पीती हूँ
जिसमें डूबकर विलीन हो जाती हूँ
लहू का एक घूंट है दोस्त
दिन का एक पहर है दोस्त—

जब यह लहू की बूंद
तुम्हारे पसीने में घुल जाती है
तब लोहे सी मेरी सत्ता
पानी की तरह बह जाती है।

यह लालसा कैसी है दोस्त
जैसे पहाड़ की ओट में
रात को
आग की एक सुर्ख लपट
पानी के बुलबुले की तरह हलकी
चुपचुप बुझ जाती है
जैसे यह पूरा चाँद,
यों घटा हो जैसे कोई बीमार औरत।

यह कैसी आग है दोस्त
जो किसी ऐसे जंगल में
लगी है, जिसके जल जाने का
किसी को अफ़सोस नहीं
बस्ती में सिर्फ़ इतनी चर्चा हुई
कि पहाड़ों में आग लगी है
आज रात बड़ी गर्मी होगी

यह इश्क कैसा इश्क है दोस्त
जिसका कहीं कोई ज़िक्र नहीं हुआ,
जैसे किसी वीराने में
एक हिरणी के घर
पहलौठी का लाल आँख खोलता है
अपने आप से डरता हुआ
कोई गडरिया
अपने आप से बतियाता हो

लालसा आँखों में यों
डोल रही है
जैसे बछड़े से दूर रखी गयी गाय की
आँखों में दूध
बछड़े को पुकार रहा हो .
एक नया इकहरा बादल
सूरज ढलने से पहले (दिखता हो)
रज़ाई की सुर्ख़ मलमल जैसा !

लालसा यह
गुफा में पली है
नशा नशे में डूब गया है
तेरे प्यार से मेरे लहू का यह रंग
लाल हुआ है
लहू का यह घूँट वह रंग है, जिसमें
अपनी उँगलियाँ डुबा-डुबा कर
गुफा की दीवार-दीवार पर विलिखित
मैंने एक तस्वीर बनाई है।

डोगरी से वेद राही द्वारा अनूदित

गुनाह

सूरज को कहो आज न उगे
रोशनी को भी अपने साथ ले जाए
अँधेरा होने दे
क्योंकि रोशनी में गुनाह नहीं हो सकता
और मैं आज गुनाह करना चाहती हूँ

हाँ, ये गुनाह है
आँखें बन्द करके उन सभी रास्तों पर दोबारा चलना
जो ख़त्म हो गये हैं
आँखें बन्द करके वो सभी चेहरे याद करना
जिनके नकूश अब मिट गये हैं
आँखें बन्द करके फिर एक बार
उसे अपने साथ चलने के लिये कहना
जो पत्थर है
पुराना पीपल है
और ख़ज़ाने पर बैठा हुआ साँप है !

डोगरी से कवयित्री द्वारा अनूदित

□ 'मधुकर'

आईना

कौन झाँक रहा है आईने में ?
किसका अक्स है यह ?
मेरा ?
नहीं, मैं नहीं हो सकता
मैं ज्ञानी, दानी, पराक्रमी,
दुनिया का सच्चा उपकारी
यह मेरा अक्स नहीं

यह कोई चोर, उचक्का
डाकू, हमलावर है
यह तेजहीन—स्याह चेहरा
(पर)
इस कमरे में मैं ही अकेला
फिर यह कौन झाँक रहा
आईने में ?
किसका अक्स है यह ?
मेरा ?
नहीं, मैं नहीं हो सकता।

मेरी आँख के इशारे से
रोज़ एक नया इतिहास लिखा जाता है
मेरे हर कदम पर मंज़िल है
मैं बेगरज़, बेलाग,
कवि, लेखक
सारी दुनिया मेरा लोहा माने
यह मेरा अक्स नहीं
यह कोई धोखेबाज़, फरेबी
झूठा, बहानेबाज़
जिसकी आँखों में चालाकी
दिखती है
(पर)
इस कमरे में
मैं ही अकेला
फिर कौन झाँक रहा इस
आईने में ?
किसका अक्स है यह ?
हाँ (शायद)
यह आईना ही मैला है
लाओ इसे धो लूँ
पर सुनो तो
क्या कह रहा है यह—
'मुझे धोने से पहले अपने दिल को धो।'

डोगरी से वेद राही द्वारा अनूदित

□ एन० वी० कृष्ण वारियर

सूरज की मृत्यु

हमारा सूरज क्षितिज पर उतरता जा रहा था
लेकिन हमारी क्षमा अस्त हो चुकी थी
हमने सूरज को गोली मारकर गिरा दिया
समुंदर लाल हो गया
पल भर के लिए सिर्फ
फिर वह काला हो गया
आकाश काला हो गया
पृथ्वी काली हो गयी
कालिमा घनी होती रही
अब भी वह घनी होती ही रहती है
सूरज में जो मरा वह क्या था ?
वह हमारी रोशनी थी,
हमारी मानवता थी ।

हम चिल्लाते हैं, 'हमें भूख लगती है ।'
भूख ? किस चीज़ की ?
कुछ थे ऐसे जो

रोटी के भूखे थे
उनके लिए ईश्वर ने रोटी बनकर अवतार लिया
और भी थे जो
कपड़े के भूखे थे,
मकान के भूखे थे,
ज्ञान के भूखे थे
उनके सामने ईश्वर कपड़े,
मकान और ज्ञान बनकर प्रत्यक्ष हुआ
वह सहज भूख थी
किन्तु हमारी ?
लाखों की भूख, करोड़ों की भूख, पद की भूख,
रौब की भूख
भूख भभकती रहती है
फिर भी ईश्वर हमारे सामने
लाख, करोड़, पद व रौब बनकर
प्रत्यक्ष नहीं होता
भला कैसे प्रत्यक्ष होता ?
ईश्वर मर गया है
सूरज में जो मरा, वह ईश्वर था।

सूरज उदित हुआ था प्राची से
रोशनी निकली थी प्राची से
प्राची की हवाएँ
पश्चिमी हवाओं को घेर लेती थीं
लेकिन लाखों और करोड़
बहते हैं पश्चिम से
पद और रौब
चटक उठते हैं पश्चिम में
इसलिए हम पश्चिम चले जाते हैं
जो नहीं जा पाते
वे जाने के सपने रचते हैं
औ' खतरे मोल लेते हैं
पासपोर्ट के लिए कितने सौ ?
एन. ओ. सी के लिए कितने हज़ार ?
वीसा के लिए कितने दस हज़ार ?
वर्क-परमिट के लिए कितने लाख ?

लोगों के पंख निकल आये हैं
पश्चिम की ओर उड़नेवाले पंख !
सूरज में जो मरी वह प्राची थी,
प्राची की विजयी-हवाएँ थीं ।

हमारे बाग-बगीचों में
फूल मुरझाते नहीं हैं
प्लास्टिक के फूल भी कैसे मुरझा सकते हैं ?
पैरिस की खुशबू उन्हें महकाती है
हमारे कोयल
वानिगन एण्ड वानिगन कंपनीवालों ने कैद किए हुए हैं
उनके गाने कभी बन्द नहीं होते
टेप के गले भी बैठ जाते हैं क्या ?
हमारे पास सब कुछ हैं,
हम दाम पर सब मोल लेते हैं—
वसन्त, स्वास्थ्य, प्रेम, शिक्षा,
संस्कार, मोक्ष आदि सब !
कॉलेज एडमिशन ? दस हज़ार
अठानवे प्रतिशत अंक ? बीस हज़ार
एम० एल० ए ? तैंतीस हज़ार और ऊपर से दो बोतल स्कॉच
मंत्री ? पचास हज़ार और ओबरॉय होटल की एक रात
आई० जी० ? सेक्रटरी ? कमिश्नर ? चेयरमैन ? न्यायाधीश ?
दुकान में हर माल पर
दामवाली पर्ची टँगी हुई है
हमारे पास सब कुछ है
बस एक चीज़ नहीं है—
हमारा सूरज;
हमारा सूरज मर गया है !

मलयालम से पी० के० वेणु द्वारा अनूदित

□ कुलानन्द मिश्र

न्याय

स्याह चेहरे का मालिन्य पढ़ने की कोशिश
करता है कोई ?
वेद, कुरान, गीता और रामायण से
बहस ही तो आरम्भ होती है !

सूखी आँखों के सामने
घूमते हैं
लाल-लाल आँखों वाले
खाल ओढ़े विकट नर-पिशाच
और लड़ते हैं
विक्रम की सिंहासन-बत्तीसी के लिए
आपसी वाक्-युद्ध !

आदमी तटस्थ भी होते हैं
जो देखते रहते हैं दोनों ओर के पलड़े

बाँट लेते हैं अपना-अपना हिस्सा
कभी बराबर
और कभी न्यूनाधिक ।
हो गया है प्राप्त अब बहुतों को
हंसों-सा नीर-क्षीर-विवेक
ऐसे लोग
आँखें मूँद दूध और पानी को
ऐसे अलगाते हैं
कि कहीं कोई अन्तर ढूँढ़ना मुश्किल हो ।

कोई पूछता है स्वयं से
ईमानदार प्रश्न ?
कोई पूछता है
कि सुबह के सूरज में सिन्दूर की लालिमा की जगह
दीखता है क्यों—
रक्तसोख रंग ?

□ वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री'

मैं भी संध्या-तर्पण करता भोर में

(एक)

लेप लिया चन्दन कहकर कुछ देह में
लहक रहा है मन अब भी संदेह में
निष्क्रिय हुई जीभ, शायद विष मिश्रित था
तथाकथित उस संजीवन-अवलेह में

(दो)

रूठ गया परिमल बौराये पेड़ से !
ग्राम-गीत है क्रुद्ध धान की मेड़ से
विरस, विनिद्रित, विकृत, उन्मथित चित्त को
लगे गुदगुदी क्यों डहकन की टेर से !

(तीन)

अब न मृणाल; नाल भी खोयी 'थाल' में
भुन्ना मछली हँसी जर्जरित जाल में
कोशी तटबन्धी महिमा पर मूक है
धेमुड़ा-त्रिजुगा गयीं काल के गाल में

(चार)

तुम न हुई सागर-तट पर, अच्छा हुआ
पिछड़ी रही कई अर्थों में, क्या हुआ !
माँ मिथिले ! तुम भले पंगु कहलाती हो
तुम न उड़ी; तूफ़ान ही आया-गया

(पाँच)

डायन ठुमकी, वृद्ध प्रेत के नाच में
कितनी कलियाँ जलीं विप्लवी आँच में
काले-काले आम दूर से क्या देखूँ
भेद नहीं मालूम पके या 'काँच' में !

(छह)

मैं भी संध्या-तर्पण करता भोर में
मातृभूमि प्रतिबिम्बित होती 'नोर' में
जीवन-भर भी मापे अन्तरिक्ष कोई
शरण मिला करती धरती के क्रोड़ में

मैथिली से मार्कण्डेय प्रवासी द्वारा अनूदित

□ चंद्रप्रकाश देवल

ढाई अच्छर

सूखे ठूँठ की
खोखल-खोखल से
मुँह दरसाती वह मौत
और जड़ों के बहाने
पसरते जीवन के बीच
मैं नितांत अकेला
तेरी मड़ैया में आने की ख़ातिर
अनेकों-अनेक पर्वत लाँघता
आगे बढ़ रहा हूँ निरंतर
मेरे क्षीण होते हुए यौवन की
तुम आख़िरी प्रेरणा हो
मेरी प्रेयसी
मेरी प्राण

यह सुंदर सुहाना
प्रेम तुम्हारा
ढलते सूरज की ऊबड़-खाबड़

राहों पर
मुझे दिग्भ्रमित कर देता है
ठौर-ठौर उलझनों की भरमार
मेरी प्राण
मेरा कुछ वश नहीं चलता

यह निर्जन व सूना जंगल
चारों ओर
रात के अधिष्ठाता
उल्लुओं की गूँज दर गूँज
व्याकुल कोचरियों का कलरव
क़दम-क़दम पर
जोखिम बेशुमार
न मेरा होश ठिकाने
न मेरा जोश ठिकाने
मेरी प्राण
कहीं कुछ भी निस्तार
नज़र नहीं आता

यह काला-स्याह अँधियारा
सर्वत्र छल-प्रपंच की शूलें
मेरी नस-नस बिंधी जा रही है
हर झाड़ी अंधी है
एकमात्र सूरज को रतौंधी है
सितारों की आँखों में जाला है
किसके सामने आँसू बहाऊँ
किस बेदरदी के सामने
दिल का दरद दरसाऊँ
मेरी प्रेयसी, मेरी प्राण

मेरे जनम-जनम की साथिन
बता कहाँ चढ़ाऊँ
तेरी प्रीति के ये ढाई अच्छर
इन्हें मठ-मन्दिरों से घृणा है
इनकी नज़रों में
गंगा-जमना का पानी सूख गया है
और ये पंगु पर्वत बेचारे

इनका भार ढो नहीं सकते
बता, बता मेरी प्राण
अब मैं करूँ तो क्या करूँ ?

दीवारों के मेहरबान

खोई-खोई आँखों से
टुकुर-टुकुर मेरी ओर
क्या देख रहे हो मेरे मीत
मैंने तुम्हें पहले ही
आगाह नहीं किया था
कि काँच की चमकती दीवारों में
क़ैद होने के बाद
हँसना-मुस्कराना कोई खेल नहीं है

अपने असह्य उपदेशों की पिटारी
मुझे सौंप कर
तुम तो खिसक गये
दूर, बहुत दूर
अब बेकार
रोने-बिसुरने में क्या सार
कोई भी मारग कभी वापस नहीं लौटता
अब तो केवल
भूत और भविष्य के बीच
यह रस्सी तनी है
चाहो या न चाहो
इस पर कुलाँचें खाओ

न कहीं आराम
न कहीं विश्राम
चारों ओर चित्राम
खाली पेट के चित्राम

घड़े में मुँह डालकर
रोने से

ये आँसू खत्म नहीं होंगे
गले फँसा
यह सभ्यता का फंदा
केवल सर धुनने से
नहीं टूटेगा, नहीं टूटेगा

गिरवी रख दे
कंठ के स्वर
जिह्वा की ताक़त
अक्षरों का आलोक
और विवेक का सार

मान ओ मान
दीवारों के मेहरबान
दूज के चाँद की ख़ातिर
ताक-झाँक मत कर
तेरी बला से
बाहर मोर नाचें तो नाचें
बसन्त छाये तो छाये

यदि इस पर भी
यह सदाबहार नुसखा
तेरे गले नहीं उतरे
तो बारम्बार
टक्कर मार
या तो ये चमकती
दीवारें ढह पड़ेंगी
या तेरा सर चकनाचूर
ये दोनों ही मुक्ति के गलियारे हैं
तेरी इच्छा हो सो कबूल कर
ओ दीवारों के मेहरबान

नाचघर

इतने दिनों से
इन कोमल चिकनी
दीवारों की ओट में
सरपट भागते
कई पथ अवरुद्ध हो गये
और कई राहगीर
गरम लहू से कसमसाती
रगों वाले राहगीर
चलते-चलते बर्बाद हो गये
और वहाँ स्थापित हो गई
धीरे-धीरे
सूने मसानों की मुर्दा शांति

इधर-उधर
इस अडिग पछीत के इधर-उधर
अपना निस्तेज मुँह लटकाये
अमिट आत्मीयता के
सारे रास्ते ही मिट गये
लंबी
हज़ार बरस लंबी उम्र के
गुलाबी भरम में ठगी
ख़ुदोख़ुद विवशता
हाथ-पाँव पछाड़ती
निढाल होकर मर गई

हमेशा, हमेशा से
परायी अँतड़ियों का
पचा भोजन खाने से
पेट को बदहज़मी हो गई
फिर भी कहाँ टूटी
इनकी नादानी कहाँ टूटी
कहाँ बंद हुआ
ढोल-नगारों का तुमुल गर्जन
कहाँ बंद हुआ

यदि और चलता रहा
यह माहौल
तो ये सफेदपोश बिजूके
एक दूसरे पर करेंगे
खाली बोतलों का प्रहार
और करने लगेंगे भैरव नाच
सौ बातों की बात
कि इस ऊँघते नाचघर का
अब अंत आ गया है
अंत आ गया है

राजस्थानी से कैलाश कबीर द्वारा अनूदित

□ मणि मधुकर

वसन्त का उत्सव : तीन कविताएँ

[एक]

बूँद भर जल
चोंच में थामे वहाँ
उड़ती हुई चिड़िया
अँधेरे से रँगे दो पंख

ऊब के ठंडे, कँटीले घोंसलों में
उलझ कर
सहमे हुए से पेड़
गुम्बजों की नम उदासी को
जला कर
राख में बदलती हुई
पुराने दिनों की कंठस्थ हँसी

ताजा घास और साँस में
चिनगारियाँ चटखाती हुई खुशबू

अलगनी पर काँपते हुए
हरे दुपट्टे

एक निर्जन शब्द के पीछे
भटक कर
चुप हो जाता है
मेरा समय
मेरा चेहरा
मेरी बारिश का पानी !

[दो]

अभी भी है
मछलियों के पास
काँच का छोटा-सा घर

अभी भी
एक उलझन में
ठहरा हुआ है
इन्द्र का रथ

अभी भी
घुड़दौड़ के मैदान में
थरथरा रही हैं
चींटियों की दिलचस्प टाँगें
और सिपाही का बुढ़ापा
धूप में चमका कर
दिखला रहा है
अपनी वर्दी का युवा कलफ़

सूराख़ों से
छलनी हो गये हैं
पहाड़ों के सीने
और गोलियों की आवाज़
कहीं सुनाई नहीं देती है

अलबत्ता जेब से निकाल कर रूमाल
जब मैं माथा पौंछता हूँ
तो सब कुछ होता है
खून से तर-ब-तर

अभी भी
बन्द ज़ीनों और
बन्द कमरों में
बन्द नर-मादाओं के
उबलते हुए गोश्त की गन्ध

अभी भी बच्चे चुबला रहे हैं
चूस रहे हैं
कटे हुए अँगूठे
टूटे हुए डंठल
और मैं बह रहा हूँ
अपनी यातना के पागल झरने में !

[तीन]

कुछ भी नहीं हुआ
वहीं जल है वहीं दलदल है
और वहीं मन
आकाश के ख़िलाफ़
काले जायके में गिरे हुए
वक़्त को
पीते रहने के लिए विवश

एक प्याले की शक्ल में
ठिठका हुआ सूर्यास्त
शीशे में आग
आग में शीशा

सिर्फ़ दर्जियों के पास है
लोगों के
हाथ-पैरों का नाप

सिर्फ इमारतों में
चीखते हुए बबूल जानते हैं
प्रेम की बेगार का अर्थ

एक अय्याशी भरा कोरस
ढूंढ़ रहा है
स्नानघरों में
स्वयंवर के सफेद झाग
और दरिया के फूल

कुछ भी नहीं हुआ
सोफे पर धूल लेकर
चढ़ गये बेहूदे वार्तालाप
और मैं उनके बीच
एक मकड़ी के जाले में फँसी हुई
सम्बन्धों की
अंतिम बाँसुरी को
ताकता रहा, केवल !

राजस्थानी से रचना मणि द्वारा अनूदित

□ 'अज्ञेय'

परती तोड़ने वालों का गीत

हमने देवताओं की धरती को
सींचा लहू से
कुक्कुटों, बकरों, भैंसों के;
हमने प्रभुओं की परती को
सींचा अपने लहू से
और अपने बच्चों के।

उस धरती पर
उस परती पर
अब पलते हैं उन प्रभुओं के
कुक्कुट, बकरे, भैंसे
जिनकी खुशी में चढ़ाते हैं वे
उन देवताओं के चरणों पर
फूल
हमारे लाये
हमारे उगाये।

न हमें पशुओं-सा मरना मिला,
न हमें प्रभुओं-सा जीना
न मिला देवताओं-सा अमरता में
सोमरस पीना।

हम उन तीनों को
जिलाते रहे, मिलाते रहे,
वह बड़ा वृत्त बनाते रहे
जिसकी धुरी से हम
लौट-लौट आते रहे···

मैंने पूछा क्या कर रही हो

मैंने पूछा
यह क्या बना रही हो ?
उसने आँखों से बहा
धुआँ पोंछते हुए कहा :
मुझे क्या बनाना है ! सब कुछ
अपने-आप बनता है
मैंने तो यही जाना है।
कह लो मुझे भगवान ने यही दिया है।

मेरी सहानुभूति में हठ था :
मैंने कहा : कुछ तो बना रही हो—
या जाने दो, न सही,
बना नहीं रहीं—
क्या कर रही हो ?

वह बोली : देख तो रहे हो
छीलती हूँ, नमक छिड़कती हूँ,
मसलती हूँ, निचोड़ती हूँ,
कोड़ती हूँ, कसती हूँ, फोड़ती हूँ,
फेंटती हूँ,
महीन बिनारती हूँ,
मसालों से सँवारती हूँ,

देगची में पलटती हूँ;
बना कुछ नहीं रही,
बनता जो है—यही सही है—
अपने आप बनता है,
पर जो कर रही हूँ—
एक भारी पेंदे मगर छोटे मुँह की
देगची में सब कुछ झोंक रही हूँ,
दबाकर अँटा रही हूँ
सीझने दे रही हूँ।
मैं कुछ करती भी नहीं—
मैं काम सलटती हूँ।

मैं जो परोसूँगी
जिनके आगे परोसूँगी
उन्हें क्या पता है
कि मैंने अपने साथ क्या किया है ?

पंडिज्जी

अरे भैया, पंडिज्जी ने पोथी बन्द कर दी है।
पंडिज्जी ने चश्मा उतार दिया है।
पंडिज्जी ने आँखें मूँद ली हैं।
पंडिज्जी चुप-से हो गये हैं।
भैया, इस समय
पंडिज्जी
फ़क़त आदमी हैं।

□ चन्द्रकान्त देवताले

उसके बसंत और अपने पतझर के बीच

शब्द और घटनाएँ और वक़्त तक
खत्म नहीं होते कभी
सिर्फ़ फिसल जाते हैं
या ज़्यादह से ज़्यादह
अपनी गुमनाम जगह में पड़े रहते हैं गुप चुप
कोहरे में—अँधेरे में,
बेनाप फासले के किसी भी पत्थर के नीचे
दबी हुई चीज़ें ऊपर से निर्जीव और
पिचकी हुई लग सकती हैं
सख्त और खुरदरी या काँटेदार
पर उनके भी भीतर रहती है
एक दुनिया हरे अँकुरों की धड़कती जड़ों के साथ

जब तक तुम अजनबी नहीं होते
या बेमतलब नहीं देखते अपना चेहरा

तब तक कुछ नहीं बनता
आदत की चिकनी सतह पर रोज फिसलते
पर जैसे ही मौजूदा चीज़ों की धार
काटने लगती है तुम्हारी त्वचा
और तुम अकेलेपन के कुएँ में
गिरने लगते हो बेबात
देखकर किसी दिन बेसबब अपना चेहरा
सारे शब्द फौव्वारों की तरह
भिजोने लगते हैं तुम्हारे अपने रेगिस्तान को
और घटनाएँ फूलों की तरह चटकने लगती हैं
वक़्त वह बसन्त बन कर घेर लेता है तुमको
तुम अपने ही किसी दूसरे में
प्रवेश कर लेते हो
और उस दूसरे के साथ जीते हुए
उन दिनों की नदी में तैरते रहते हो
पर कुछ भी होने लगता है
तुम्हारे हाँफने के बहुत पहले
मसलन डाकिया, टेलीफोन की घंटी
या किसी की पदचाप
मच्छर तक हो सकता है नाचीज़
और तुम अपने को सूखे कपड़ों में पाते हो
उसके बसन्त के बाहर
अपने पतझर में।

जागने से पहले

सब कुछ हो चुका होता है दुनिया में
सूर्योदय से लेकर बाद की तमाम चीजें
उसके जागने से पहले नल, दूध, अखबार वाला
यहाँ तक कि पहली डाक का डाकिया
सब लाँघ चुके होते हैं घर-दर-घर का फासला

जागो सुबह हो गई—कोई नहीं कहता
कोई नहीं खेलता उसकी नींद की पसरी हुई देह से

चाय ठण्डी हो गई—अखबार आ गया जैसी कोई कटकट नहीं
वह न हड़बड़ा कर जागता है न इतमीनान से
सिर्फ़ जागता है हर बार पहली बार की तरह
चकित और बुदबुदाते हुए—बेचारी नींद टूट गई

याद करने को कुछ भी नहीं होने से
बिन शिकायत देखता है आसपास बिखरी हुई चीज़ें
सिगरेट के टुकड़े, जूठी तश्तरियाँ, लटकते-झूलते कपड़े
उड़ते-बिखरते कागज़ों के चिन्दे
पत्थर की तरह बजती हुई घड़ी
और मुर्गे की तरह बेवक़्त फड़फड़ाता अख़बार

बंद करने लगता है वह आँखें फिर से
सोचते हुए—उजड़ गई होगी सुबह की महफिल कभी की
शुरू हो गई होगी लूट-खसोट छीना-झपटी
दिन की काँटेदार चरखी में
पिराने लग गया होगा आदमी
कहा उसने अपने से—कितना खून पिला दिया होगा
अब तक मैंने कि पानी पी सकूँ चैन से
साँस लेकर लम्बी फिर हिसाब करने लगा वह
कैसे-कैसे ठग रही होगी आदमी को कहाँ-कहाँ
बाहर फुदकती दिन चढ़ी दुनिया

□ पद्मधर त्रिपाठी

अपने खिलाफ

बाहर—
हवा में झनझनाते पेड़
नाख़ून से चिपकी समय की गरमी
चीज़ें
लोग
नाम
—सब हाथों से छूटते जा रहे हैं
टूटते जा रहे हैं वादों और दावों के दराज
फिर भी अपने को हलका महसूस करते हैं हम
जैसे तेज़ बुख़ार उतरने के वाद...

यह सच है—
पड़ोस का रक़बा बेहद ख़ाली-ख़ाली है
जाली है शब्दों की लड़ाई,
मगर आदत ही तो है—

ऐन मौके पर हम सही तल्ख़ी के बजाय
बंद मुट्ठियों में सिर्फ़ तल्ख़ मुहावरे उछालते हैं
—यानी एक स्थिति :
पैर से उतारे गये जूते की मानिन्द—
जिसे झूठ या सच बनाकर पालते हैं
अपने चारों ओर
शोर और थकी-मुँदी आँखों के आरपार...

बेकार नहीं हैं—दाँत या आँख : नये या पुराने
—सारी बदहवासियों से अलग
हमारी ज़रूरत होते हैं
—हमें पता है : हमारी नंगी तसवीर
शहर के उस मुकाम पर चिपका दी गयी है
जहाँ रोज़ अँधेरा लम्बा होने पर
सफ़ेद कबूतरों की दूकानें सजती हैं !
—और फिर भी हम झंडों के नीचे
शहादत देती परिस्थितियों और
खनखनाती घटनाओं से
चुपचाप समझौता कर लेते हैं—
क्योंकि सीधी कार्रवाही के बजाय
हमें सीमाओं की पाबन्दी मुफ़ीद है !

उम्मीद है फिर भी, महज़ इसलिए कि—
ख़तरनाक तकलीफ़ों से घिरा
सारा तनाव—
दमामे की आवाज़ के साथ
जब-जब अचानक कमज़ोर होता है
—एक सम्भावना की तरह अकबकाकर हम
खिड़की से बाहर देखने लगते हैं
अपने ख़िलाफ़—रोशनी की तरफ़...

□ रघुवीर सहाय

कला क्या है

कितना दुख वह शरीर जज़्ब कर सकता है ?
वह शरीर जिसके भीतर खुद शरीर की टूटन हो
मन की कितनी कचोट कुंठा के अर्थ समझ
उन के द्वारा अमीर होता जा सकता है ?

अनुभव से समृद्ध होने की बात तुम मत करो
वह तो सिर्फ़ अद्वितीय जन ही हो सकते हैं
अद्वितीय याने जो मस्ती में रहते हैं चार पहर
केवल कभी चौंक कर
अपने कुएँ में से झाँक लिया करते हैं
वह कुआँ जिस को हम लोग बुर्ज़ कहते हैं।

अद्वितीय हर व्यक्ति जन्म से होता है
किंतु जन्म के पीछे जीवन में जाने कितनों से यह
अद्वितीय होने का अधिकार

छीन लिया जाता है
और अद्वितीय फिर वे ही कहलाते हैं
जो जन के जीवन से अनजाने रहने में ही
रक्षित रहते हैं।

अद्वितीय हर एक है मनुष्य
औ उस का अधिकार अद्वितीय होने का
छीन कर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं
उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार
पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेट कर
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं
वे, जो प्रत्येक दिन चक्की में पिसने से करते हैं शुरू
और सोने को जाते हैं
क्योंकि यह व्यवस्था उन्हें मार डालना नहीं चाहती
वे जिन तकलीफ़ों को जान कर
उनका वर्णन नहीं करते हैं
वही है कला उनकी
कम से कम कला है वह
और दूसरी जो है बहुत सी कला है वह

कला और क्या है सिवाय इस देह मन आत्मा के
बाकी समाज है
जिसको हम जान कर समझ कर
बताते हैं औरों को, वे हमें बताते हैं

कला बदल सकती है क्या समाज ?
नहीं, जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।

□ लीलाधर जगूड़ी

जुबानकशी

जीभ हर वक्त भाषा में उतना नहीं रहती
भूख और स्वाद और थूक में जितना रहती है
उन कारीगरों में से एक ने सोचा
जिनकी जीभ और जिनके हाथ काट दिये गये थे

बोलना और छूना दोनों नहीं रह गए हैं
केवल देखना रह गया है
और अब बिना साँप बने
अपने देखने में से ही सुनना है
ऐसा कि जिसमें बिना जीभ की एक लम्बी बातचीत हो
जो बिना हाथ के, दूर किसी भरकम चीज़ को छूती हुई
दस्तकार मन की गूँज हो

ऐसी गूँज कि जिसे मकड़ा भी अपनी आत्मा में
सुनता है और एक जाल बुनता है

भोजन फँसाने के लिए
जिसे हर कोई आत्मा दूसरे किनारे तक तानती है
जहाँ से लौटा नहीं जाता पर मकड़ा लौट आता है
बिना यह जाने कि भीतर अब कितना सूत बाकी है

बहुत कुछ बाकी है उस दिन की बातचीत
जिसे चाहता हुआ भी मैं बोल नहीं सकता
याद आती है नाभि और दिमाग़ से जुड़ी हुई
वह खोयी हुई तन्दुरुस्त और रसीली जीभ
जिस पर एक भी छाला नहीं था उस दिन

उस अंतिम दिन वाली जीभ मुझे याद है
वह मेरी आवाज़ के पड़ोस में लेटी हुई थी

जिस तरह गूँगी मिट्टी उगाती है पंख-पराग
खुशबू से जुड़ा एक मुकम्मिल खिला हुआ फूल
उसी तरह मैं उसे याद रखे हुए हूँ

केवल एक फूल ही नहीं जीभ एक पूरा जंगल है
एक पूरा बागीचा
जिसमें तरह-तरह के शब्द खिलते हैं
वाक्य उठते और भाषा लहराती है

लेकिन उस दिन का जो अँधेरा खिंचा हुआ है
मेरी आँखों में, मेरे गले में
उसे यदि मैं यों कहूँ कि 'जब मेरी जीभ छीनी गयी'
तो शायद यह आरोप होगा
निंदा और हिंसा भी हो सकती है
भड़काने वाली बात भी हो सकती है

इसलिए मैं कहूँगा कि उस्तरे की छाया में
जीभ जब आराम करती है
एक सफर शुरू होता है दूसरी भाषा की ओर
अँधेरे में एक गूँगा सफर
जिसमें फूल पहले ही चढ़े हुए हैं टहनियों पर
जैसे कोई जन्म से ही सूली पर चढ़ा हुआ हो

एक का भी अन्त हो जाता हो जिस एकांत में
उसमें भी तमाम लोगों को खड़े पाता हूँ
जैसे बागीचे की रेलिंग से घिरे हुए पेड़ हों
उनके छोटे-छोटे एकांत अगर जोड़ दिये जायें
जिनमें वे बोलते नहीं सिर्फ उगते हैं
मेरे सारे एकांत अगर जोड़ दिये जायें
जिनमें मैं चाहता हूँ पर बोल नहीं सकता
तो यह एक पूरे जंगल जितना एकांत होगा
जिसमें खड़े रहकर भी पेड़
अपना बीज बनाना नहीं भूलते

और उसी में से उस सिलसिले के पास
पहुँचा जा सकेगा
जहाँ जीभ तो आराम करती है
मगर अनुभव,
हुनरमंद दोस्तों के उन हाथों में पड़ जाते हैं
जो दिखार्या नही देते
पर हर बार क़लम किये जाते हैं
मगर जिनके दस्तखत
इमारतों से लेकर इबारतों तक फैलते जाते हैं

ऐसे में जब मैं अपने पास आता हूँ
तब अपना कवि स्वयं बन जाता हूँ
कटी हुई जीभ और कटे हुए हाथों के बावजूद
फिर मकड़ा अपने सूत पर चलता है
फिर ओस मोतियों में बदल जाती है
फिर एक हवा चलती है
जो हिन्द महासागर में सुखाती है बाल
और पहाड़ की धार पर खड़ी
सुखाती है अपना सुनहरापन
वह एक हवा
जो कई हज़ार वर्ष लम्बी हवाओं में से आकर
मेरे गले में अटक जाती है
जो शब्द के भीतर घुसकर तूफ़ान उठाना चाहती है
मन होता है कटे हुए पंजों में जाते हुए उजाले को
अपनी अलभ्य जीभ से कहूँ
लेकिन यह एक दूसरा रक्तपात होगा

ऐसा कि जिसमें सब हृदय, सब सिर
मशीनों के नीचे
एक ही बटन से जलाये बुझाये जायेंगे

सोचिये कि जब हाथ और भाषा दोनों ही न हों
तब अगर जीभ भी न हो
तो जानवर भी नहीं हो सकते
क्योंकि वे खुद को और अपने बच्चों को भी
भाषा से नहीं जीभ से चाटते हैं

पर मैं चेहरा अपना छू तक नहीं सकता
शब्द कोई अपना कह तक नहीं सकता
एड़ी से चोटी तक जो मुझमें अब भी पैदा होते हैं

सिर बचाने के लिए मैं अपना धड़ बदल लूँ ?

क्या हैं ये मेरी; ये मेरी शिराएँ ?
क्या हैं ये मेरे; ये मेरे बाल ?
क्या इन्हें भावनाएँ कहकर काट दूँ ?

बेचैनी, एक ऐसी बेचैनी जो काँटेदार पेड़ों में होती है
जिनका सम्पूर्ण रस काँटों के मुँह तक पहुँचता है
और लौटकर जड़ों के पास अपने कान
मिट्टी से सटा देता है
आत्मा के अँधेरे में जहाँ वर्षों से इंतज़ार है
प्राणों की किसी एक और आहट का

बहुत कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है आस-पास
कुछ नहीं है मुँह में
कुछ नहीं हैं जबड़ों के बीच
चट्टानों की तरह भारी सन्नाटा है

मगर खून से सिंची हुई थोड़ी-सी आत्मीयता
मुझे बार-बार लहरा देती है
चट्टानों के बीच उगी हुई घास की तरह

फूलों के पतन के बाद फलों की दुनिया से होकर

भूख के सुनसान में
मुट्ठी भर मिट्टी और इंच भर अँधेरा जिसके लिए
गर्भाशय बन जाते हैं

और वह हरी भाषा न तुतलाती है
न भिमियाती है बल्कि तनकर खड़ी हो जाती है
और झुकने से जो टूटती नहीं बस चिपक जाती है
दो चट्टानों के बीच
उस मिट्टी और अँधेरे को
एक चिड़िया अगर खोदे तो पूरी नहा भी न सके
ताज्जुब है...

मैं ज्यों ही कुछ करना चाहता हूँ
त्यों ही ढूँढता हूँ अपने कटे हुए हाथ
कुछ कहना चाहता हूँ तो याद आती है कटी हुई जीभ
मेरे सारे संबंधों पर इन्हीं दो के ब्यौरे अंकित हैं
जिसे मुझसे डर था
उसे इन्हीं से डर था
उसके मन में मेरी यही दो शिनाख़्तें थीं

अब मुझे एक सपना देखना है
हाथियों के झुंड में, घोड़ों के झुंड में
दाना-पानी खाये हुए बैलों के झुंड में
ट्रैफिक के रेले में, प्रतीक्षा सूचियों में
आसमान को थाली की तरह नचाता हुआ सपना
ज़मीन के सिर पर बागीचे वाला सपना
जिसमें वनस्पतियों की जड़ से उगा हुआ
हर फूल का चेहरा पहचाना जा सके
क्योंकि हर चेहरे में एक अदृश्य जीभ होती है
जो उसकी भाषा को दूर-दूर तक फैलाती है
और दिशाओं के हाथ सक्रिय हो जाते हैं

अब मुझे एक सपना देखना है
ऐसा जिसकी छाती लोहे की और दिल फूलों से बना हो
जिसकी आँखों में नदियाँ और ज़ख़्मों में झीलें हों
जिसके अगल-बगल

नींद के कारखाने में
पृथ्वी
दूध से भरे हुए स्तन की तरह उभर रही हो
एक ऐसा सपना
जिसमें अपने गिरे हुए हिस्से को मैं चूम रहा होऊँ
जैसे सूर्य
अँधेरे से खींचकर पृथ्वी को चूमता है।

जगत्तारनी

□ गिरिराज किशोर

कहानी

छोटे-छोटे बहुत से नदी-नाले आकर मिले तो 'जगत्तारनी' जगत्तारनी बनी। जब से वह जगत्तारनी बनी सब उसकी ओर देखने लगे। पार लगाये तो जगत्तारनी और डुबाये तो जगत्तारनी। चाहते सब पार लगना ही थे। सुख-दुख, पाप-पुण्य, सुच-असुच सब जगत्तारनी के नाम। 'मन लेहु पै देहु छटांक नहीं'। मल से लेकर पातक तक साऽब जगत्तारनी की धार! जगत्तारनी असहिष्णु कभ्भी नहीं होती। यदा-कदा की बात और थी। एक बार ही हुई थी। बिफरकर बदला लेने दौड़ पड़ी थी। जब बिफरी तो उसने 'सुरज' तक को धूल चटा दी। जगत्तारनी के जलों पर किल्लोल करने वाले समझते थे कि उन्होंने उसके जल को नदी-नालों में बाँटा हुआ है, वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। जगत्तारनी के बिफरते ही वे सब धरती में लोट-लोटकर विनती करने लगे थे। पर वह तो काली कलकत्तेवाली हो गई थी। सबको खप्पर में भर लिया। जिन्हें जगत्तारनी ने छमा कर दिया था वे जिन्दगी भर जगत्तारनी का कीर्तन करते रहे। पर वह अपने गुणगान से भी निर्विकार हो गई थी। उन कीर्तनियों को घुटलनी चलना सीखने वाले बच्चों की तरह, घुटनों चलते देखती रही थी। बस!

जगत्तारनी के बारे में लोग अटकलें लगाते। वे भी ऐसी-ऐसी कि कहे बने, ना सुने। उनका कहना था कि वह थी पहले भी, पर लोपावस्था में थी। जब लोगों का संघर्ष बढ़ा और पुण्य जगा तो हरहराकर प्रकट हो गई। ब्रह्मा ने उसे भी उसी तरह सरजा है जैसे सृष्टि को सरजा था। जहाँ बैठकर सृष्टि को बनाया था वहीं बैठकर जगत्तारनी को भी अपने कमण्डलु से निकाला। आज भी ब्रह्मा की कील वहीं गड़ी है जहाँ बैठकर इन दोनों को गढ़ा गया था। अपने पिता द्वारा गाड़ी कील को ताका करती है।

'पर होता तो कुछ नहीं।'

'होगा कैसे नहीं।' जगत्तारनी सुषुप्ता अवस्था में है। जाग्रत हुई नहीं कि प्रलय मचा देगी। हाँ ऽऽ! जय जगत्तारनी की!' वे श्रद्धा से आँखे मूँद लेते।

सृष्टि भी ब्रह्मा ने बनाई और जगत्तारनी भी। जगत्तारनी सृष्टि की मातहत। मातहत ही होती तो कोई फ़र्क नहीं था। पर जगत्तारनी को तो परनार समझ लिया। निबटेंगे तो जगत्तारनी के तट पर और सुचायेंगे तो जगत्तारनी के जल से। सोचते जायेंगे और कहते जायेंगे 'जगत्तारनी तू सबसे बड़ी, तोसे बड़ा न कोय।' धत तेरे कहने वालों की और धत तेरी ऐसा सुनने वालों की।

मर्द ही नहीं औरतें भी गीत गाती थीं। सान्ध्य-दीप जलाती थीं। उसका जल आँखों में लगाकर बिना दिये भी, आशीर्वाद का अहसास अपने अन्दर भरती थीं। अपने-अपने मर्दों और बच्चों का नाम लेकर गुहार करती थीं कि 'हे जगत्तारनी, हम सब पर अपनी कृपा बनाये रखना। इन सब मान-मनौतियों ने धीरे-धीरे उनके मन से जगत्तारनी का उग्र रूप बिसरा दिया था। वे उसे खूँटे से बँधी गैया मानकर, सींगों को न देखकर थनों को देख रहे थे। भुलावे में पल रहे थे कि जगत्तारनी उन्हीं के बाँधे बँधती है और उन्हीं के खोले खुलती है। वे उसकी ओर से हर तरह निश्चित हो गये थे। नये-नये रास्ते खोजकर नये-नये धन्धों में जुट गये थे!

अपने-अपने धंधे में जो जुटे थे उनके धंधों तक पहुँचाने वाले सब रास्ते अब वायुमार्ग से होकर जाने लगे थे। जगत्तारनी के जल में से होकर जाने वाले रास्ते, अब रास्ते नहीं रहे थे। बस्ती में औरतें, बूढ़े और पके-अधपके लड़के-लड़कियाँ थे। औरतों और बूढ़ों की इतनी समस्या नहीं थी। वे पके-अधपके लौंडे-लपाड़े हमेशा हवा के घोड़े पर सवार रहते थे। उनके दिमाग में यह ग़लतफ़हमी घुस गई कि वे ही जगत्तारनी हैं। वे ठान लें तो सब कुछ उलट-पलट सकते हैं। वे जगत्तारनी के जल को उछालकर आसमान तक पहुँचाने का हौसला पाले थे। बड़े-बूढ़ों को पुरानपंथी कहकर उनकी उपेक्षा करने लगे थे। बड़े-बूढ़े भी कम नहीं थे। नई पौध को दीमकचाटी जड़ों वाली पौध मानकर उनकी महती उपेक्षा करते थे।

उनका विशेष लगाव उन डोंगियों से था जो कभी जगत्तारनी के जलों पर तैरा करती थीं। समय बदल गया था। डोंगियाँ बेकार होकर किनारों पर उल्टी पड़ी थीं। उनका विश्वास था कि इसी से जगत्तारनी उच्छृंखल हुई है। रोज़ अपनी धारा बदलती है। आज यहाँ कल वहाँ। हिंडोला हो गई। इसमें जगत्तारनी का ही दोष नहीं। हमारा भी है। हमने न उसे प्यार से बाँधा न कर्म से। थल और वायुमार्ग तो बना लिये पर यह नहीं सोचा कि अथाह जलवाली इस जगत्तारनी का क्या होगा। बिना बरते इस पर कैसे अंकुश रखा जायेगा। अब तो छुट्टी है चाहे जिधर जाये। बरताव समय को नटियाता है और हरामीपन सिजलाता है। अपने को

चतुर समझने वाले वायुमार्गी कभी-कभार जगत्तारनी से आत्मीयता बघारने के लिए घुटनों-घुटनों तक उसके जल में उतरते, चहल-कदमी करते और निकलकर मुलायम तौलियों से उनके पाँव पोंछ दिये जाते। हो जाता जगत्तारनी-समागम ! दोनों खुश। जगत्तारनी भी कि ये लोग मुझे भूले नहीं और वे भी कि जगत्तारनी का हम कितना ध्यान रखते हैं। जल भी उछाल न मारता और कपड़े भी न भीगते।

पुरानी डोंगियाँ जल में पड़ी-पड़ी नाकारा हो गई थीं। एक जगह बँधी डोंगियों को जल हर क्षण चाटता जा रहा था। बस वे खाली-पीली हिलती थीं। हवा से हिलते ढाँचे की हड्डियों की तरह कड़कड़ाती थीं। जब तक ये कारगर थीं तो छोटी से छोटी लहर और बड़ी से बड़ी भँवर को पहचानती थीं। जगत्तारनी को अपनी विराटता का अहसास था और डोंगियों को अपने चिड़िया के चुग्घे जितनी बिसात का।

कच्चे-पक्के लौंडे-लपाड़ों की समझ में उन बुढ़ाते लोगों की बात नहीं आती थी। उनकी शिकायत थी कि वे एक ही गाना गाते हैं। अपने मरे-गले अनुभवों का सफ़ूक हमारे अन्दर भर कर, हमें शीशियों की तरह एक तरफ़ रख देना चाहते हैं। वे लोग सीधे जगत्तारनी के जल में घुस पड़ने को उतावले थे। उनका खयाल था कि जब जगत्तारनी से हम हैं और जगत्तारनी हमसे है तो फिर यह दूरी कैसी ? वे वायु के मार्ग पर विचरण करने वाले प्रौढ़ और दरमियाने लोगों की परवाह किये बिना जल में उतर जाना चाहते हैं। उनकी गहरी आकांक्षा थी कि वे उस जल से दोस्ती कर लें और फिर उसी में रात-दिन तैरा करें। कभी बूढ़े आड़े आ जाते और कभी वायुमार्गी अपनी बेइज़्ज़ती का वास्ता देकर उन्हें डपट देते थे। जल में घुस पड़ने की उन लोगों की बेचैनी लगातार बढ़ रही थी।

एक दिन उन्हें मौका मिला। वे घुस लिये। उनके इस घुसने ने उन्हें एक विचित्र यथार्थ के आमने-सामने खड़ा कर दिया। वे भौंचक्के रह गये। जगत्तारनी के बीचो-बीच बहुत गहरे जल में एक चमचमाती नई-नकोर नाव तिरछी होकर अटकी खड़ी थी। वह न तो बढ़ रही थी, न तैर रही थी और न ही डूब रही थी। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह डूबती क्यों नहीं ? टिकी कैसे है ? कहाँ से आई है और कहाँ जायेगी ? जो लोग लाये थे वे क्या डूब गये ? जादू या चमत्कार तो नहीं ? वे तैरकर उस नाव के निकट पहुँचने के लिये लालायित हो उठे। पर उनकी मुश्किल यह थी कि न तो वे लोग जगत्तारनी के स्वभाव से ही परिचित थे और न ही उन्हें उस चक्रव्यूह में धँसकर लौटने का रास्ता मालूम था। यही भय उन्हें घुसने नहीं दे रहा था। जबसे होश सँभाला था जगत्तारनी को दूर से ही देखकर जीना सीखा था। उनका संस्कार निकटता का न होकर दूरी का था।

पुरानी और जल खाई डोंगियाँ जल से बाहर छोटे-छोटे टापू बनी सूख रही थीं। कभी-कभी वे जल से निकली जलविहीन कद्दावर मछलियाँ होने का आभास भी देती थीं। यह भी लगता था कि जल में छोड़ते ही वे जी उठेंगी। बच्चे उन पर चढ़कर सिंहासन-सिंहासन का खेल खेला करते थे। डोंगी के चारों तरफ़ फैली धरती उन छोटे-छोटे गद्दीनशीन राजाओं की सल्तनत हो जाती थी। जीतने वाले बच्चे हारी हुई डोंगी और उसके साथ लगी सल्तनत के स्वामी बनकर उस पर कतरनों का बना झंडा गाड़ देते थे। मुँह से तुड़-तुड़ तुड़म-तुड़ बाजा बजाकर राजतिलक कर लेते थे। उसी ललक के साथ वे उस तिरछी होकर अड़ी नाव को भी

देख रहे थे। पर सवाल एक ही था कि जल में कौन उतरे ?

उन लोगों ने सलाह पर सलाह की। दो-चार ने हिम्मत करके तैरकर उस नाव तक पहुँचने की रज़ामन्दी भी दी। पर उनके सामने एक अन्धा कुँआ था कि वहाँ पहुँचकर न जाने किस स्थिति का सामना करना पड़े। पानी में होने वाली लड़ाई का उन्हें क़तई अन्दाज़ नहीं था। हो सकता है वह नाव छलावा ही हो और चढ़ते ही ले उड़े। या जगत्तारनी के जल में ही समा जाये। उत्साहवादी उस तर्क का मज़ाक उड़ाने लगते थे। बीच का रास्ता निकालने वाले इस बात पर अड़ गये कि बड़े-बूढ़ों से पूछ लेना ज़्यादा सही होगा। उन्होंने भी लगभग सारी उम्र जगत्तारनी में नावों को खेहा है। वे जगत्तारनी के मिज़ाज़ से परिचित हैं। उपकरण चाहे ईंधन हो जाये पर अनुभव कभी ईंधन नहीं होता।

बहुत-सों को बिना मन के भी सहमत होना पड़ा। छोटी-छोटी टोलियाँ बनाई गई। बस्ती में भेजा गया। नुक्कड़ों पर, चौपलों पर, गलियों में सब जगह फैल गये। तिरछी नाव के बारे में बड़े रोचक ढंग से बताने लगे। लोगों के दिलों में उत्सुकता जगी। जगत्तारनी के जल पर फिर से जम सकने की आशा छोड़े हुए बड़े-बूढ़ों के दिलों में खुलबुलाहट-सी पैदा हो गई। उन्हें अपनी पुरानी नाविकी याद आने लगी। वे जलमार्ग की विश्वसनीयता के प्रति एकाएक सजग हो उठे। थल या वायुमार्ग में आदमी धोखा खा जाये तो दुर्गति ही दुर्गति है। जल में तो सीधे जल-समाधि प्राप्त होती है। वे सब जगत्तारनी की तरफ़ लाठियाँ टेकते-टेकते दौड़ पड़े।

जब तक जगत्तारनी के किनारे पहुँचे सूरज काफ़ी ऊपर आ गया था। जल पर वह खील-खील होकर भुरभुरा गया था। नाव और अधिक चमक गई थी। बड़े-बूढ़े पहले तो आँख मिचमिचाकर गहरे जल में खड़ी उस नाव को देखते रहे। बैठे। उचके। बच्चे नाव को उतना नहीं देख रहे थे। लेकिन बड़े-बूढ़ों की प्रतिक्रियाओं से अन्दाज़ लग रहा था कि जहाँ वे बोलते हैं वहाँ देखते नहीं और जहाँ देखते हैं वहाँ बोलते नहीं। जितना वे उसे निहारते रहे थे उतनी ही उनकी बोलती बंद हुई जा रही थी। उनकी गंभीरता उनके अपने ऊपर ही तनती जा रही थी।

उनमें से एक ने पूछा, 'एक ही है ना ?'

उसकी बात का उत्तर देने के बजाय आपस में एक दूसरे की ओर देखने लगे। चेहरे लम्बे हो गये।

दूसरे ने सवाल किया, 'ऐसा तो नहीं, यह नाव हमें ले जाने के लिये आई हो ?' तीसरे ने कहा, 'सुना है पहले भी एक बार इस तरह की नावें आकर रुकी थीं, वे सब कुछ लेकर चली गई थीं।'

लड़कों में से एक सवाल था, 'पर इतनी तिरछी होकर क्यों खड़ी हुई है ? उलटती क्यों नहीं ?'

दूसरे ने पूछा, 'वे जो इसे चला रहे थे वे क्या हुए ?'

एक बहुत बूढ़े ने उन्हें टरकाना चाहा, 'तुम लोग जाओ, यह तुम्हारे समझने की बात नहीं। हम लोगों को समझने दो।'

दूसरा बूढ़ा बोला, 'ज़रूरत पड़ी तो हम लोग जाकर देखेंगे...!' उन लोगों ने दूसरे बूढ़े की बात सुनते ही हो-हल्ला मचा दिया, 'तुम क्यों जाओगे ? हम क्यों नहीं जाएँगे ? हम लोग

आप लोगों को इसलिए लाये थे कि जगत्तारनी के जल से हमारी पहचान करा दें।'

वहीं सबसे बूढ़ा बोला, 'हमने दुनिया देखी है। तुमने अपनी चड्डी तक नहीं देखी। हम जानते हैं ये खेल कैसे होते हैं। यह जाल भी हो सकता है और कभी न खत्म होने वाली अनजानी यात्रा का निमंत्रण भी। हमारा क्या, हम तो किनारे पर बैठे हैं! चाहे जब चल दें। जाल हो या निमंत्रण, हमारे लिए दोनों एक से हैं। तुम लोगों के सामने सारी जिन्दगी है। इसलिए हम ही जाएँगे। काम आ गए तो क्या, ना आ गए तो क्या!'

'नहीं, हमें ना अभी दुःख का पता है और ना सुख का। दोनों से परिचय प्राप्त करना है। हम ही जाएँगे।'

एक चिल्लाया, 'दुनिया भर की बातें मिला रहे हो। यह क्यों नहीं बताते कि यह तिरछी होकर भी डूब क्यों नहीं रही?'

वे लोग गंभीर थे। लड़के-बच्चों की शंकाओं का शमन करना उनके लिए बाध्यता नहीं थी। वे जगत्तारनी के तट पर बँधी और जलखाई नावों की तरफ़ बढ़ने लगे। नौजवान भी बढ़े। बूढ़ों ने उन्हें डपट दिया। वे अड़ गये। उनकी बाल-हठ उभर आयी और वे दृढ़ता से बोले, 'हम भी चलेंगे। जगत्तारनी हमारी है। हम उसके जिलाये जीते हैं, मारे मर जायेंगे। तुम उसे छोड़ चुके हो। केवल इस बुढ़ौती में उस चमचमाती नाव में बैठने का लालच तुम्हें खींच रहा है।'

बड़े-बूढ़ों के पास तर्क था। वे नहीं चाहते थे कि यह नई-नकोर पीढ़ी किसी अनजाने खतरे का शिकार बने तथा जगत्तारनी के जल में उतरकर अनदेखे और खतरनाक रास्तों की तरफ़ बढ़े। इसलिए उन्होंने उसे बाल-हठ समझकर नज़रंदाज़ कर दिया। किनारे पर जड़ पड़ी हुई उन पुरानी डोंगियों से उस नई नाव तक यात्रा करने के लिए वे सब बूढ़े तत्पर दिखाई पड़ने लगे। वे इस बात को समझ रहे थे कि वे जगत्तारनी का पार तब भी नहीं पा सके थे जब ये डोंगियाँ नई थीं और उन लोगों की कलाइयों में तैरते चले जाने की कला थी। और अब भी नहीं पा सकेंगे। लेकिन एक नई और चौकस नाव सामने थी। हो सकता था उस नाव के हाथ लग जाने पर उनकी यात्रा स्वतः पूरी हो जाये। उन्हें कुछ भी करने से निजात मिल जाये।

इस समय भी जगत्तारनी पहले वाली असील गाय ही थी। उसके सींग थे ही नहीं। वैसे उनके लिए वह संपूर्ण जगत्तारनी तिरछी और चमचमाती नाव हो गई थी। उनकी लालच-भरी दृष्टि गली हुई तलियों से युक्त डोंगियों और उन छोटी-छोटी भुरभुराती लहरों से हट चुकी थी। उनका खयाल था कि उस चमत्कारी नाव के हाथ लगते ही जगत्तारनी फिर से एक बार उनकी अनुगामी हो जायेगी।

नई पीढ़ी के वे अधकचरे लोग अपनी बात पर निरंतर अड़े थे कि जगत्तारनी के जल में उतरकर उस नाव तक पहुँचने का प्रयत्न करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। उनके शरीरों में दम है। ज़रूरत पड़े तो वे तैरकर भी जा सकते हैं। बस थोड़े से मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है। वे जगत्तारनी से कटकर या किनारे पर से उसे बहता देखकर ही जगत्तारनी के संगी-साथी नहीं बने रहना चाहते थे। उन लोगों ने डोंगियों पर अपना कब्ज़ा जमा लिया और घोषणा कर दी, इन डोंगियों को वे किसी को छूने तक नहीं देंगे।

बूढ़ों ने तख्ते जुटाये। एक अस्थायी नैया तैयार की। बिना इस बात की चिन्ता किये कि वे उन तख्तों के सहारे संतुलन बनाये भी रख सकेंगे या नहीं। जगत्तारनी चाहे जितनी भी गऊ लगती हो, पर इतना वे भी जानते थे कि उसके जल में कोई संतुलन खो दे और बचकर

निकल आये, असंभव है। इतने बड़े खतरे के बावजूद उन्होंने तख्तों की उस नैया को जल में उतारा। उतारने के साथ ही उनके सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि उस नाव में कौन-कौन बैठेगा ? कौन आदमी, किस रूप में, किस जगह...वगैरह, वगैरह।

नाव गंजायश की दृष्टि से छोटी थी। ऐसे लोगों को ही ले जाया जा सकता था जो वक्त पड़ने पर अस्थायी नाव के बिखरने पर भी अपने को बचा सकें। उनका खयाल था कि प्रवाह की तीव्रता के सामने अनुभव जितना काम आता है उतना नयापन या शारीरिक बल काम नहीं आता। उन्हें नये लोगों के बढ़ते हुए दबाव से भी लड़ना पड़ रहा था और अपनी अन्दरूनी खींचातानी से भी। काफ़ी देर के बाद वे आन्तरिक मामलों को तय कर पाये। तीन लोग जाने वाले बने। दो का नाम खेहने में था। एक अदल-बदल के लिए सुरक्षित था। जिस व्यक्ति ने यह फैसला कराया था उसने किनारे पर रहकर ही उनके लिए प्रार्थना करने का भार अपने ऊपर ले लिया था।

उसने उन नौजवानों को को भी समझा-बुझाकर मना लिया था। वे उसके इस तर्क से सहमत हो गये थे कि उन लोगों के लिए वह एक अन्तिम अवसर है, देकर देख लिया जाय। फिर तो उनमें के लोगों को सँभालना ही होगा।

वे तीनों अपने-अपने स्थानों को अदल-बदलकर नैया को साधते हुए बढ़ने लगे। तट पर बैठा वह बूढ़ा उन्हें आगे बढ़ते चले जाने के लिए उत्साहित भी कर रहा था। जिसके हाथ में बड़ा चप्पू था, बार-बार शेष दोनों को चेता रहा था कि वे नैया को ठीक तरह से खेवें। नैया डूबेगी, तो उनके ही कारण डूबेगी। उनमें से एक असहिष्णु हो उठा। उसने कूद पड़ने की धमकी दे दी। बड़ी मुश्किल से रोका गया। उससे कहा गया कि वह नैया खेहने में चाहे मदद न करे परन्तु बना रहे। नहीं तो संतुलन बिगड़ जायेगा। बड़े चप्पू वाला ही छोटा चप्पू भी चलाने लगा।

किनारे पर पीछे छूटे हुए बूढ़े आपस में झगड़ रहे थे। नैया ऐसे लोगों को थमा दी गई है कि आगे नहीं बढ़ पा रही है। ये सब बीच में ही नैया को डुबा देंगे। उसका आगे बढ़ना वाकई थमने लगा था। चप्पू चलते नज़र आ रहे थे। नैया यथावत थी। किनारे वाले हाथ उठा-उठाकर चिल्ला रहे थे कि नाव को आगे बढ़ाओ। नहीं तो किनारे पर बैठे लोग भी डूब जायेंगे। इस नैया को आगे बढ़ाना ही तुम्हें और हमें, सबको सुरक्षित रख सकता है।

कुछ लोग चिल्लाये, अगर तुम नहीं खेह सकते तो बड़ा चप्पू दूसरे को दे दो। किसी भी हालत में इस नैया को उस नाव तक पहुँचना ही है।

बड़ा चप्पू वाला नाराज़ होकर चिल्लाया 'मैं साफ़ देख रहा हूँ कि वे लोग जो नाव से पलट जाने से जगत्तारनी की तलहटी में चले गये थे, ऊपर आने की कोशिश में हैं। लहरों में अस्थिरता आती जा रही है। नैया भी डगमगा रही है। बीच धार पर चप्पू बदलना मूर्खता होगी।'

नाव पर खाली-पीली बैठा वह आदमी बोला, 'नाव गलत दिशा में जा रही है...जिधर बढ़ रही है उधर जगत्तारनी का पाट ही पाट है। वह हमें उलट-पलट भी सकती है। हम अपने उद्देश्य से भटक चुके हैं।'

'नहीं, नैया पर हमारा पूरा अधिकार है। जिधर से यह ले जाना चाहता है, वहाँ भँवर है। मैं अधिक सुरक्षित रास्ते से घुमाकर ले जा रहा हूँ। इसने अपनी डोंगी सदा नहरों और नालों में चलायी है। यह जगत्तारनी के स्वभाव से बिल्कुल परिचित नहीं।'

किनारे पर खड़े लोग एकाएक चिल्लाने लगे। 'जल्दी करो जगत्तारनी के तेवर बदल रहे हैं। जल चढ़ने लगा। तुगयानी की संभावना बढ़ रही है। तुम तिरछी खड़ी नाव तक पहुँचने के औसान खोते जा रहे हो। तुम्हारी कोई दिशा नहीं। इस तरह से जगत्तारनी तुम्हें रास्ता नहीं दे सकती। तुम्हारी नैया डूब रही है...नौजवान लोग कूद पड़ने को तैयार हैं...'

किनारे पर जमा नये लोगों ने जगत्तारनी में छलांग लगा दी। वे उसके जल में घुलते-मिलते जान पड़ने लगे। जल इतना बढ़ गया कि नैया आँखों से ओझल हो गई। जगत्तारनी किनारों को पार करती हुई बढ़ने लगी। किनारे वाले बूढ़ों ने सुरक्षित स्थान खोजना शुरू कर दिया। वह तिरछी चमचमाती नाव जल की सतह के साथ ही ऊपर उठती जा रही थी। नौजवान बावजूद उस उफान के जगत्तारनी का हिस्सा बनते जा रहे थे। जगत्तारनी अपने पूरे जोर में थी। वह नाव और ऊँची हो गई थी। संघर्ष गहरा होता जा रहा था। बूढ़े नाविकों की नैया के टूटे तख्त बीच-बीच में बहते हुए दिखलाई पड़ जाते थे।

पोखर

भीष्म साहनी

रेलवे कण्डक्टर गठे हुए कद्द का आदमी था, नीली वर्दी में वह और भी ज़्यादा चुस्त नज़र आता था, हाथ में पकड़े कागज़ को झुलाता हुआ वह बार-बार चिल्ला रहा था :

'मैं गाड़ी नहीं चलने दूंगा। तुम फौरन उतर जाओ, सब के सब। जिन लोगों के नाम इस फ़हरिस्त में हैं; वही बैठ सकते हैं। बाकी सब उतर जाओ।'

वे सब लोग कौन थे जिन्हें वह सम्वोधित कर रहा था? वे सब तो इस बीच सारे कम्पार्टमैंट में छितर गए थे, कुछ नहीं तो बीस-पच्चीस जवान रहे होंगे, कुछ गलियारे में खड़े थे, कुछ केबिनों में घुस गए थे, और कुछ थे जो कण्डक्टर की चिल्लाहटों के बावजूद अपना भारी सामान अभी भी डिब्बे में चढ़ा रहे थे। जगह-जगह उनके सामान के ढेर लग चुके थे, गलियारे में, दरवाज़े के पास, सण्डास के सामने।

'तुम लोग यहाँ नहीं बैठ सकते। बस, मैंने कह दिया। मैं गाड़ी नहीं चलने दूँगा।'

वह फिर चिल्लाया पर अभी भी मालूम नहीं हो पाया था कि वह किस व्यक्ति विशेष को सम्बोधित कर रहा है।

मुसाफ़िरों के झुरमुट में खड़ा एक ऊँचा लम्बा फ़ौजी जवान बेतकल्लुफ़ी से बोला :

'हमारे जवान तो जायेंगे ही। हम गाड़ी में चढ़ जायें तो उतरते नहीं। अब तो हम भोपाल में ही उतरेंगे।'

बावर्दी कण्डक्टर ने लम्बे जवान को सिर से पर तक देखा, क्षण-भर के लिए ठिठका, फिर ऊँची आवाज़ में बोला :

'तुम रेलवे कानून तोड़ रहे हो, मैं रेलवे पुलिस को बुलाऊँगा। उतर जाओ गाड़ी में से।'

जवाब में लम्बे जवान ने दूसरी ओर देखते हुए अपने एक साथी से कहा, 'जल्दी चढ़ाओ सामान, जानते नहीं, गाड़ी छूटने वाली है।'

अपना रोआब टूटता देखकर रेलवे कण्डक्टर अन्य मुसाफ़िरों से मुख़ातिब हुआ :

'देखते नहीं, बाहर लिस्ट लगी है ? तुम क्यों चढ़ आए डिब्बे में ?'

और उसने दो-तीन देहाती सवारियों को जो फ़ौजी जवानों को चढ़ता देख, पीछे-पीछे गाड़ी में चढ़ आयी थीं, गठरियों समेत धकेलकर नीचे उतार दिया।

'कभी समझेंगे नहीं साले, परेशान कर दिया।' और अपनी सफलता पर इठलाता हुआ, वह फिर चिल्लाकर बोला :

'मैं किसी एक को भी सफ़र नहीं करने दूँगा। मैं गाड़ी रोक दूँगा।'

और अन्य घुसपैठियों से निबटने के लिए वह एक केबिन के अन्दर चला गया और सीट पर बैठकर अपने सामने अपना चार्ट खोल दिया। उसके बैठते ही मुसाफिरों के एक झुरमुट ने उसे घेर लिया। सात-आठ हाथ, रेल-टिकटें पकड़े हुए उसकी ओर फैल गये।

'मैं वेटिंग लिस्ट में सातवें नम्बर पर हूँ।' एक ने कहा, 'देख लीजिए, लिस्ट पर मेरा नाम लिखा है, लेखराज बजाज।'

'मेरा वेटिंग लिस्ट में तीसरा नम्बर है।' दूसरे ने कहा। उसका टिकटवाला हाथ बढ़कर कण्डक्टर के नाक तक जा पहुँचा था। 'तीसरा नम्बर। सन्तोख सिंह। देख लो।'

'सीट है नहीं तो कहाँ से लाऊँ ? कण्डक्टर चिल्लाया।

'सीट है नहीं तो टिकट क्यों दिये हैं ?'

'टिकट वेटिंग लिस्ट में दिये हैं।'

'वेटिंग लिस्ट में दिये हैं तो कम-से-कम बैठने की जगह तो दो।' कण्डक्टर के माथे पर पसीना आ गया था और वह हाँफने लगा था।

'सीटें हैं नहीं तो कहाँ से दूँ ? जनरल कम्पार्टमैंट में चले जाओ।'

'एजेन्सी कोटा भी भर गया है।' कण्डक्टर ने कहा और सीटों पर बैठे अथवा पसरे हुए मुसाफिरों के टिकटों की, एक-एक करके, जाँच करने लगा।

तंग पतलून वाला एक युवक जो बराबर सिगरेट फूँके जा रहा था, लपक कर एक बर्थ पर चढ़ गया और चढ़ते ही पसर गया। फिर नीचे की ओर देखते हुए अपने किसी दोस्त को आँख मारकर, धीरे से बुदबुदाया :

'देखेंगे क्या होगा ?' और हाथ के इशारे से अपने साथी को जता दिया कि गाड़ी चलने पर तू भी ऊपर आ जाना।

'यह बर्थ रिज़र्व हो चुका है। अगले स्टेशन पर सवारी आ जाएगी।' रेलवे कण्डक्टर चिल्लाया, 'उतर जाओ।'

'जब सवारी आ जायेगी तो उतर जायेंगे।'

'सब चलता है' किसी ने डिब्बे में टिप्पणी की, जिसे सुनकर कहीं बैठे एक-दो आदमी

हँस दिये।

गठीला कण्डक्टर आस-पास उठे टिकटों वाले हाथों से बचने के लिये अपना सिर और भी पीछे की ओर ले गया और हाँफते हुए बोला, 'रेल कानून मैंने नहीं बनाया ! यह दो-टेयर का डिब्बा है। इसमें वही बैठेगा जिसका लिस्ट पर नाम है। मुझे पुलिस बुलानी पड़ेगी। लाइये साहिब, दिखाइये अपना टिकट। आप दिल्ली जा रहे हैं ?'

गलियारे के जिस बर्थ पर युवक लपककर चढ़ गया था, उसी के साथ वाले बर्थ पर से एक महिला बोली :

'यह क्या तमाशा है ? जिसकी सीट रिज़र्व नहीं है, वह यहाँ कैसे बैठ सकता है ? सारा डिब्बा खचाखच भर गया है, अभी से दम घुटने लगा है।'

जवाब में किसी मनचले की आवाज़ आयी :

'आप पसरी रहिये, महारानी जी ! आपको किस बात की चिन्ता है। आपको तो पूरा बर्थ मिला हुआ है।'

'मिला कहाँ है, खुद महीना भर पहले रिज़र्व करवाया था।'

'फिर आपको क्या पड़ी है इनसे उलझने की ? चुपचाप पड़ी रहिये।'

'क्यों ? मैं क्यों चुप रहूँ ? जो बात ग़लत हो रही है, उसे क्यों होने दूँ ?' उसने फिर ऊँची आवाज़ में कहा, 'जो आदमी बुराई को देखकर आँखें मूँद लेता है, वह बुराई को बढ़ावा देता है।'

मनचला हँस दिया, 'पूरा बर्थ मिल गया है ना, इसीलिए लक्चर दे रही है।'

पर एक और मुसाफ़िर चिढ़कर बोला, 'जब औरतों के लिए अलग डब्बा है तो औरतों का यहाँ क्या काम ?'

इस पर महिला सहसा चुप हो गयी, और मुँह फेरकर लेट गयी।

कण्डक्टर उठ खड़ा हुआ और चार्ट के पन्ने झुलाता हुआ दूसरे केबिन की ओर बढ़ गया। पाँच-सात आदमी उसके पीछे-पीछे हो लिये।

पर तभी एक युवक जो उसके पीछे-पीछे जाने लगा था, भागता हुआ लौट आया :

'मेरा बटुआ !' वह हड़बड़ाकर बोला और सीटों के नीचे-ऊपर झाँकने लगा, 'मेरा बटुआ ! आपने काले रंग का बटुआ तो नहीं देखा है ?' उसने कहा, और बार-बार कभी पतलून के पिछले पाकेट को तो कभी अपनी कमीज़ के पाकेट को टटोलने लगा, 'मेरा बटुआ किसी ने निकाल लिया है।'

लम्बे कद वाला युवक था, रेशमी कमीज़ और क्रीम रंग की पतलून। रेलवे कण्डक्टर को रिश्वत देने के ख़्याल से बार-बार वह उसे निराले में ले जाने की कोशिश करता रहा था। रिश्वत देने का मौका तो नहीं आया, इधर बटुआ ही गायब हो गया। उसका चेहरा पीला पड़ गया था, लापरवाही की जगह व्यवहार में हड़बड़ी आ गयी थी, तनाव और बदहवासी आ गयी थी।

लोगों को उसका बटुआ खोजने के बजाये, अपना गाँठ-खीसा सँभालने की फिक्र होने लगी। ऊपर वाले बर्थ पर बैठे एक वयोवृद्ध मुसाफिर ने, अपने बास्कट के अंदर वाले जेब में से अपना बटुआ निकाला और कुर्ते के बटन खोलकर अन्दर बण्डी के जेब में रख लिया।

'सब चलता है' आकाशवाणी की तरह कहीं से फिर आवाज़ आयी।

आखिर रिज़र्वेशन वालों को अपने-अपने बर्थ मिल गये, बैठने वालों को सीटें, पर जिन्हें सीटें मिली थीं, उनके साथ सटकर और लोग भी बैठे हुए थे, अन्दर घुसने वाला एक भी टस से मस नहीं हुआ था।

केबिन में ऊपर वाले आमने-सामने की दो बर्थों पर दो मुसाफिर आराम से पसरे हुए थे, एक ने तोंद पर हाथ फेरते हुए कहा :

'मैं तो चावल खा-खाकर परेशान हो गया।'

कम्पार्टमैंट खचाखच भर जाने के बावजूद वे दोनों मज़े से बतिया रहे थे :—

'यह संतरे तो मिले। दक्षिण में संतरे थे ही कहाँ। भात खा-खाकर नाक में दम आ गया।'

दोनों मुसाफ़िर आराम से संतरे छील-छीलकर खा रहे थे। उनमें से एक तो संतरे के छिलके बड़ी बेतकल्लुफ़ी से सीधा नीचे फर्श पर फेंक रहा था। हर बार वह छिलका फेंकता तो नीचे बैठे मुसाफ़िर आँख उठाकर उसकी ओर देखते, लेकिन उसे कोई कहता कुछ नहीं था। हाँ, दूसरा मुसाफ़िर अपने छिलके अपने पास इकट्ठे करता रहता था, और जब कुछ छिलके इकट्ठे हो जाते तो हाथ में उठाकर वह थोड़ा-सा झुकता और किसी कसरती की तरह उन्हें खिड़की के बाहर प्लेटफार्म पर फेंक देता। वहाँ गिरते ही वे प्लेटफार्म पर छितर जाते।

बर्थ पर बैठा, फर्श पर छिलके फेंकने वाला मुसाफ़िर कह रहा था :

'एलोरा में हमने एक बात देखी, एलोरा में तीनों धर्मों के गुफ़ा-मंदिर हैं, बौद्ध, जैन, हिन्दू, तीनों के मंदिर साथ-साथ हैं। मतलब कि पहले बौद्धों ने अपने मंदिर बनाये, फिर जैन-मत वालों ने, फिर वैष्णवों-शैवों ने।"

'फिर ?' दूसरे ने दिलचस्पी ज़ाहिर करते हुए पूछा।

'आप समझे नहीं, खास बात यह है कि किसी धर्म ने दूसरे धर्म के मंदिर तोड़कर अपने मंदिर खड़े नहीं किये। यह खास बात है। जब हिन्दुओं ने मंदिर बनाये तो बौद्धों के मंदिर ज्यों के त्यों खड़े रहने दिये, उन्हें तोड़ा नहीं, बिगाड़ा नहीं, हमारे यहाँ सहनशीलता रही है। हमारे देश की यह खास बात है।"

'दक्षिण में और क्या देखा ?' दूसरे ने पूछा।

लेकिन पहला मुसाफ़िर उसी नुक्ते को लेकर गद्‌गद् हो रहा था।

'जियो और जीने दो ! यही हमारी संस्कृति का सार है।'

रेलवे कण्डक्टर और मुसाफ़िरों के बीच अभी भी खींचातानी चल रही थी। वह चार्ट झुलाता हुआ फिर लौट आया था।

'आप यहाँ से हट जाइये' उसकी आवाज़ बार-बार गलियारे में से आ रही थी। मगर फ़ालतू मुसाफ़िर न तो स्वयं गाड़ी में से उतर रहे थे और न कण्डक्टर ही उन्हें उतार पा रहा था। चैकिंग के बाद भी कोई अपनी जगह से हिल नहीं रहा था। हाँ, लेटनेवाले मुसाफ़िर अपने-अपने बर्थ पर जमे हुए थे।

सहसा गाड़ी में हरकत आयी, साथ ही शोर का भी जैसे धमाका-सा उठा। तरह-तरह की हड़बड़ी की आवाजें उठीं, पर ज़्यादातर वे प्लेटफार्म की ओर से आयी थीं, स्टेशन की चिल्ल-पों पीछे छूटने लगी। दो एक जगह पर धक्का-मुक्की हुई, कुछ गाली-गलीज भी हुआ, आपा-धापी भी हुई, तू-तू मैं-मैं भी, पर शीघ्र ही यह सब थम गया। डिब्बे में लोग अपनी-अपनी

जगह पर सैट होने लगे। गाड़ी में शीघ्र ही मौन-सा छाने लगा। सभी के सभी मुसाफ़िर सही सलामत मौजूद थे, उनमें से एक भी नहीं उतरा था, हाँ, गाड़ी छूटने के क्षणों में कुछ और मुसाफ़िर, लपककर डिब्बे में घुस आये थे। और धीरे-धीरे पहियों की लयबद्ध आवाज़ और हल्के-हल्के लयबद्ध हिचकोले वातावरण पर छाने लगे।

हरकत में आते ही गाड़ी जैसे संसार से कट गयी थी, और अपने मुसाफ़िरों को लिये किसी अनन्त विस्तार की ओर बढ़ने लगी थी। मुसाफ़िर खामोश होने लगे थे और जैसे वे इस गाड़ी के ही होकर रह रये थे। ऐसी ही कोई भावना रही होगी कि फालतू मुसाफ़िर, जिनकी संख्या डिब्बे में वैध मुसाफ़िरों से दुगुनी रही होगी, धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आने लगे थे। और एक दूसरे की सीट पर साथ-साथ जमने लगे थे, शाम पड़ते ही एक तरह की उदासी-सी चारों ओर छाने लगी थी, जो दिलों में आत्मीयता का भाव जगाने लगी थी। बाहर दूर-दूर तक फैले मैदानों पर शाम के साये, जो कब से उतर आये थे, अब गहराने लगे थे, और इन दूरियों में, जगह-जगह, घरों-कस्बों के टिमटिमाते दिये. आँखों के सामने आ-आकर पीछे छूटते जाते थे। गाड़ी के पहियों की लयबद्ध खट-खट को सुनते हुए सभी मुसाफ़िर अपने-अपने अन्दर सिमटने लगे थे। कण्डक्टर शायद पहले ही संध्या के इस अवसाद का शिकार हो चुका था, इसीलिये वह अपने चार्ट उठाकर चुपचाप कहीं चला गया था। मुसाफ़िर एक दूसरे के निकट आने लगे थे। लम्बू जवान एक सीट के सिरे पर बैठ गया था, आधा बैठा और आधा हवा में लटका हुआ था। उसके इस तरह अटक जाने पर किसी मुसाफ़िर ने विरोध नहीं किया। रेल-सफ़र के अपने नियम होते हैं, अपने इन्सानी रिश्ते होते हैं! जितनी देर स्टेशन पर गाड़ी खड़ी रहे, मुसाफ़िर एक दूसरे के जानी-दुश्मन होते हैं, बाहर से घुसने वाले को फटकारा जाता है, उसका सामान उसके मुँह पर फेंका जाता है, पर एक बार वह जैसे-तैसे अन्दर घुस आये तो उनके साथ सम्बन्ध बदल जाता है, वह नाती बन जाते हैं। डिब्बे की बिरादरी के सदस्य बन जाते हैं। अगला स्टेशन पहुँचते-पहुँचते वे स्वयं नये मुसाफ़िरों पर चिल्लाने और उनके मुँह पर उनका सामान फेंकने लगते हैं। मुसाफ़िर जायें भी तो कहाँ? उन्हें भी तो सफ़र करना है, कहीं पहुँचना है। इनकी भी तो कहीं कोई राह देख रहा होगा। ऐसी ही भावना दिलों में उठने लगती है।

अब तक लम्बू जवान खुलकर इत्मीनान से बैठ गया था। और साथ वाला मुसाफ़िर अपने-आप ही थोड़ा और सिमट गया था। यह भाईचारे का कारण रहा हो या फ़ौजी के डर से, कहना कठिन है।

'हम तो खड़े-खड़े भी तीन-तीन दिन का सफ़र काट लेते हैं," लम्बू थोड़ा और सीट पर सरकते हुए बोला फिर मुँह ऊपर को उठाकर, डिब्बे के शून्य को सम्बोधित करता हुआ, ऊँची आवाज़ में चिल्लाया :

'खिलावन सिंह को ताप चढ़ा हुआ है। उसे पानी पिलाते रहना।'

दूर, कहीं सामान के ढेरों के बीच से आवाज़ आयी :

'पानी पिला दिया है।'

बिस्तरों के ढेर के कारण सण्डास के सामने का रास्ता बन्द हो गया था। फिर भी बिल्कुल बन्द नहीं हुआ था। दीवार के साथ-साथ लगकर इंच-इंच बढ़ते जाओ, बायें हाथ से सण्डास के 'लैच' तक हाथ पहुँचाओ तो सण्डास का दरवाज़ा खुल सकता है, और तुम सण्डास के अन्दर घुस सकते हो। और अगर इस बीच कोई होल्डाल अपनी जगह से लुढ़क न जाये तो

जैसे तुम अन्दर गये थे वैसे ही बाहर भी आ सकते हो। लगता है रेलवेवालों ने बड़ा सोच समझ कर गाड़ियों के डिब्बे बनाये हैं, हर सण्डास के बाहर ढेरों सामान भी रख दो तो जैसे-तैसे सण्डास के अन्दर घुसा जा सकता है। अगर दरवाज़े बाहर को खुलते तो इतना सामान कहाँ रखा जा सकता था ?

खिड़की के पास, आमने-सामने बैठने की एक-एक सीट है। पर इस समय एक-एक पर दो-दो बैठे हैं यहाँ भी लगता है रेलवे वालों ने कमाल कर दिखाया है। एक आदमी पीठ से पीठ लगाकर बैठे, दूसरा थोड़ा आगे को झुक जाए और दोनों कोहनियाँ घुटनों पर टिका ले तो उसे स्वयं भी पता नहीं चलेगा कि वह केवल आधा बैठा हुआ है। इस तरह बैठे-बैठे या अधबैठे-बैठे सारी रात काट सकता है। एक युवक जो गलियारे की ओर मुँह किए, उकड़ूँ सा बैठा बड़ी देर से ऊँघ रहा था, सहसा उठ खड़ा हुआ है और पलक मारते खिड़की के ऊपर वाली बर्थ पर चढ़ गया है, जिस पर पहले से एक आदमी सोया पड़ा था। ऊपर पहुँचकर युवक पहलू के बल लेट गया है। इस तरह जगह कम घेरी जाती है। पहले से सोया आदमी, नींद में ही करवट बदल कर एक पहलू के बल लेट गया है। लगता है इन्सान का शरीर रेल के डिब्बों को ध्यान में रख कर ही बनाया गया है। सीधा लेटने के बजाय पहलू के बल लेट जाओ, टाँग पर टाँग चढ़ा लो, तो एक-एक बर्थ पर दो-दो आदमी सो सकते हैं। सो ही नहीं सकते, सोये-सोये उज्ज्वल भविष्य के सपने भी देख सकते हैं। भगवान ने पहले ही समझ लिया होगा कि आदमी जहाँ भी होगा दूसरे के बर्थ पर घुसकर अपने लिए ज़रूर जगह बनायेगा।

नीचे की दो सीटों के बीच, फ़र्श पर, नींद से परेशान, एक मुसाफ़िर ने अपना बिस्तर बिछा लिया है। वह उस पर अभी अपनी टाँगें फैला भी नहीं पाया था कि कहीं से एक और मुसाफ़िर पहुँच गया है और पलक झपकते उसी बिस्तर में उसकी बगल में लेट गया है। दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। पूछने की औपचारिकता तक नहीं निभायी।

डिब्बे के बर्थ, सीटें, सीटें ही नहीं सारा फर्श भी, गलियारे भी, सीटों के बीच का, बाहर खुलनेवाले दरवाजों के बीच का, सण्डास के सामने का दो डिब्बों को मिलाने वाली खट-खट कमानी पर बना रास्ता भी, सभी मुसाफ़िरों से और मुसाफ़िरों के सामान से अटा पड़ा है। सोये, अधलेटे, अधलेटे-अधबैठे, अधबैठे-अधखड़े, उकड़ूँ, पीठ लगाए, घुटनों के बीच सिर दबाये, दूसरे के कन्धे पर सिर लटकाये, दूसरे की जाँघ पर अपना सिर रखे, सीट के नीचे, सीट के आधे नीचे-आधा बाहर, हर मुसाफिर अपनी-अपनी जगह पर फिट हो गया है, डिब्बा 'सैट' होने लगा है। एक मुसाफ़िर का सिर चार जोड़ी जूतों के बीच लुढ़का पड़ा है। एक स्त्री, अपनी ट्रंकी के ऊपर सिर रखे, फ़र्श पर बैठी गहरी नींद सो रही है, उसका बच्चा, गोद में से लुढ़क कर गलियारे में नंगा पड़ा है, पर मुट्ठियाँ भींचे सोया पड़ा है। नींद में पड़े बेबस शरीर अपने आप ढीले पड़ गए हैं। उनके सभी जोड़, सभी सीवनें जैसे अपने आप खुलने लगी हैं। सभी जैसे-तैसे एक-दूसरे पर पड़कर झूलने लगे हैं।

ऊपर की दो बर्थों पर के दोनों मुसाफ़िर अभी भी बतिया रहे हैं। अधमुँदी आँखों से नीचे का दृश्य देखते हुए एक सज्जन जो एलोरा की यात्रा से लौट रहे हैं बोले :

'आपने देखा होगा,' वह गद्‌गद् आवाज़ में कहते हैं, 'डिब्बा कितना खचाखच भर गया है, लेकिन किसी ने किसी स्त्री-मुसाफ़िर को परेशान नहीं किया। कहीं और होता तो आप देखते। हमारे लोग सचमुच बड़े धर्मपरायण लोग हैं, बड़े सहनशील।'

गाड़ी बराबर चिंघाड़ती हुई अँधेरे में बढ़ती जा रही थी। लगता था न जाने यह कहाँ मुसाफ़िरों को जा पटकेगी। सिर झूलने लगे थे, बैठे हुए मुसाफ़िर अपने आप लुढ़कने लगे थे, एक दूसरे पर गिर रहे थे। किसी का अपने पर कोई काबू नहीं रह गया था। पतली मूछोंवाला जवान न जाने कब सीट पर बाज़ू और सिर टिका कर गहरी नींद सो गया था। जिस युवक का बटुआ चोरी हो गया था, अब थक कर गलियारे में खड़ा था, और एक बर्थ के साथ सिर टिकाये खड़े-खड़े ही सोने की कोशिश कर रहा था।

ऊपरवाले बर्थ पर लेटे मुसाफ़िर की दुनिया ही दूसरी होती है। वह टाँगें पसार सकता है, जब चाहे लेट सकता है, अधमुँदी आँखों से नीचे की दुनिया का नज़ारा ले सकता है। नीचे बैठा कोई मुसाफ़िर, जो सो नहीं पाया और बीड़ी पर बीड़ी फूँके जा रहा है वह आँखें ऊपर उठाकर देखे तो उसे मानों जन्नत का नज़ारा देखने को मिलेगा जहाँ बर्थवाला मुसाफ़िर टाँगें फैलाये फ़िल्मी रसाले में अधनंगी औरतों की तस्वीरें देख रहा है। ऊपर वाला बर्थ वैसा ही है जैसे कोई पुख्ता ऊँचा मचान जहाँ से आप, इत्मीनान से बैठे, नीचे बाढ़ का दृश्य देख सकते हैं, जहाँ मवेशी और इन्सान और खाटें और घरों का साज-सामान गड्ड-मड्ड हो रहा है और हाहाकार मची है।

ऊपर की दूसरे बर्थ पर वयोवृद्ध मुसाफ़िर जो भारतीय संस्कृति पर गद्‌गद् हो रहे थे उठ बैठे हैं। अभी थोड़ी देर पहले उन्हें झपकी आ गयी थी। वह उठ बैठे हैं और तैरती नज़र से नीचे की दुनिया को देखे जा रहे हैं। जैसे लाशों का अम्बार लगा हो। नींद में लोग कितने अटपटे, बेजान पुतले से नज़र आते हैं, अधिकांश के मुँह खुले हुए, टाँगें कहाँ और बाज़ू कहाँ, लुढ़के हुए, अस्त-व्यस्त, क्या ये सचमुच इन्सान हैं? क्या ये सचमुच जिंदा हैं?

महानुभाव नीचे उतर आये हैं। उतरने के लिए दो जगह पर छोटे-छोटे पायदान लगे हैं। पहले एक पायदान पर पाँव रखो तो तुम आधा नीचे उतर आओगे। दूसरे पर रखो तो पूरा उतर आओगे, फिर हल्की सी छलांग और आप फर्श पर हैं। बड़ी सफाई से, किसी नट की तरह, आप उतर आए हैं। देवलोक से पृथ्वीलोक पर आ गए हैं। स्वर्ग से सीधा पाताल पहुँच गए हैं। उन्हें सण्डास जाना है और यहाँ सण्डास तक पहुँचने का कोई रास्ता नहीं।

पाँव रखने की जगह नहीं। बच्चे के सिर और माँ के घुटने के नीचे तनिक-सा फर्श ख़ाली है। उन्होंने उस पर दायाँ पाँव रखा हैं। बायाँ पैर रखने से पहले उसके लिए स्थान ढूँढ़ना ज़रूरी है। आगे किसी का ट्रंक रखा है, एक आदमी का सिर भी लुढ़कता हुआ ट्रंक के पास पहुंच गया है और ट्रंक पर दो सिर पहले से रखे हैं, एक महिला का दूसरा उसके बेटे का। सिरों के बीच टंकी पर ही छोटी सी जगह ख़ाली है। बाँयाँ पैर उस पर आ गया है। अगला पैर एक आदमी के सिर के पास पड़ेगा। फिर उससे अगला—अरे, यहाँ तो किसी बच्चे ने टट्टी कर दी है। आसपास वालों को मालूम पड़ गया होगा, क्योंकि वे इससे बचकर थोड़ा सरककर लेट गए हैं। पास में ही हाथ धोने का वाश-बेसिन है। बेसिन में गंदा पानी भरा है, शायद उसका छेद बन्द हो गया है। गाड़ी के हिचकोलों से पानी बार-बार छलक जाता है और छलक कर नीचे फर्श पर गिरता है।

छक-छक पानी फिर छलका है, निकट के मुसाफ़िर गहरी नींद में सोए पड़े हैं। छलकते जल की बूँदें मुसाफ़िरों के कपड़ों, उनके चेहरों पर गिर रही हैं। किसी सुनहले सपने में खोयी हुई महिला को लगा कि वह अमराई में खड़ी है, और बरसात की झड़ी लगी है और उसके

चेहरे पर फुहार पड़ रही है। महानुभाव आगे बढ़ गए हैं। गंदे पानी के छींटे औरत पर, फ़ौजी जवान के चेहरे पर और उकड़ूँ बैठे एक रेल मज़दूर पर पड़े हैं। जवान ने चेहरा ढक लिया है, औरत ने मुँह पर अपने पल्ले का सिरा ओढ़ लिया है, और उकड़ूँ मज़दूर बड़बड़ाया है और बड़बड़ा कर फिर सो गया है।

सण्डास तक पहुँच पाना, पहाड़ की चोटी तक पहुँचने के बराबर है, पर बुजुर्ग ने हिम्मत नहीं हारी, न केवल सण्डास तक पहुँच पाये हैं, बल्कि वापस भी निकल आये हैं। पर लौटते हुए सण्डास का दरवाज़ा बन्द करने का ख्याल उन्हें नहीं आया और न ही सण्डास में पानी छोड़ने का। क्षण भर के लिए ठिठकते ज़रूर हैं, पर फिर यह सोचकर कि किसे पता चलेगा कि मैंने खुला छोड़ा है या किसी दूसरे ने ? अपने बर्थ की ओर चल देते हैं।

अब वह क़दम-क़दम, ध्यान से रखते बच-बचकर चलते हुए अपने बर्थ की ओर लौट रहे हैं। उनके दिल में फिर से भावुकता उमड़ने लगी है। किस तरह ये लोग एक दूसरे से सटकर सोये पड़े हैं, रात काट रहे हैं, जैसे एक ही परिवार के लोग हों, रात ही तो काटना है, जैसे-तैसे कट जाय। बस, रात काटने के लिये बालिश्त भर जगह चाहिये, ये और कुछ नहीं माँगते, किसी को परेशान नहीं करते।

सहसा दो घटनाएँ एक साथ घट गयी हैं। ऐन नीचे वाली बर्थ पर एक बच्चे ने पेशाब कर दी है, और पेशाब चूकर सीधा नीचे फर्श पर लेटे मुसाफ़िर के सिर पर गिरा है। और अभी भी गिर रहा है। बह-बहकर चूता हुआ उसके कंधों, बाहों पर गिरने लगा है और वह हड़बड़ाकर उठ बैठा है।

'पानी गिरा है।' उसने कहा, फिर सहसा उसकी नींद टूटी और सच्चाई का बोध हुआ, 'अरे, पेशाब कर दी ! हरामी की औलाद, कौन है ?' फिर चिल्लाकर बोला, 'अबे बन्द कर।' बच्चे की पेशाब सचमुच बन्द हो गयी है जैसे मदारी के तमाशे में होती है।

'हरामी की औलाद, मेरा सारा बिस्तर भिगो दिया।' वह बड़बड़ाया। पर वास्तव में सारा बिस्तर नहीं भीगा था, अभी तक केवल चादर का एक किनारा भीगा था। चादर के सूखे हिस्से से उसने मुँह-हाथ पोंछे, कुछ देर और बड़बड़ाया और फिर पड़कर सो गया।

दूसरी घटना इससे अधिक गंभीर थी। बेसिन का नल कहीं से फट गया था, और सारा गंदा पानी जो अन्दर रुका पड़ा था, फ़व्वारे की तरह उछलकर फ़र्श पर फैलने लगा था।

सबसे पहले पास में सोयी हुई एक स्त्री हड़बड़ाकर उठी। पानी बहता हुआ उसके नीचे जा पहुँचा था जिससे उसकी साड़ी गन्दे पानी से सन गयी थी।

'हाय माँ, यह क्या है ?'

वह चिल्लायी और अपने बेटे को उठाया। टंकी पर रखा दूसरा सिर भी उठा। दीवार के साथ उकड़ूँ बैठा घने बालों वाला मज़दूर भी उठा। पानी फ़र्श पर बहे जा रहा था और उसमें तरह-तरह के पीले-सफेद कण तैर रहे थे और बदबू के भभूके उठ रहे थे।

'कोई बात नहीं', कहीं से कोई मुसाफ़िर बोला, 'जितना बहना था बह चुका है, अब और नहीं बहेगा।'

'सारा फ़र्श गंदा कर दिया। खिड़की खोल दो।' कहीं से आवाज़ आयी। पर किसी ने खिड़की नहीं खोली।

बदबू का भभूका फिर उठा। बच्चे को बहते पानी से थोड़ा दूर लिटाकर, और उसे

कुछ देर तक थपकी देते रहने के बाद स्त्री उठी और खिड़की का आधा पल्ला उठा दिया। फर्राटे का झोंका अन्दर आया।

दोनों बैंचों के बीच फर्श पर लेटे मुसाफ़िर का बिस्तर ऊपर से भी और नीचे से भी पानी से सन गया था। ऊपर से बच्चे के पेशाब के कारण और नीचे से वाश-बेसिन से छलकते गन्दे पानी के कारण जो उसके होल्डाल के नीचे तक चला गया था, वह लेटे-लेटे ही, मन ही मन खीझ रहा था। कैसे जाहिल लोग डिब्बे में घुस आये हैं। हरामी की औलाद और अब किसी ने खिड़की खोल दी है और बाहर की ठण्डी हवा सीधी मेरे सिर पर पड़ने लगी है। अगर खिड़की रात भर खुली रही तो सुबह तक मुझे ज़रूर ज़ुकाम हो जायेगा। उसने कनखियों से अधखुली खिड़की की ओर देखा। खिड़की बहुत दूर नहीं थी। उसका मन हुआ, हाथ बढ़ाकर उसका ताक गिरा दे। उसने लेटे-लेटे हाथ बढ़ाया भी। पर वह उस तक पहुँच नहीं पाया।

'खिड़की बन्द कर दो' वह चिल्लाया। पर कोई मुसाफ़िर नहीं उठा।

उसने हाथ पीछे को खींच लिया और कम्बल के एक सिरे से सिर को ढकते हुए करवट बदल ली।

'सिर ढका रहे तो कोई ज़रूरी नहीं कि ज़ुकाम लग ही जाये। अब तो हम उठने से रहे। सुबह देखेंगे क्या होता है।' नींद की एक और लहर उठी और उसकी चेतना को सराबोर कर गयी।

सिर के नीचे दोनों हाथ रखे, गद्‌गद् महोदय छत को ताक रहे थे और भावुक हो रहे थे। भावना का ज्वार-सा फिर उनके अन्दर उठा था :

'सहनशीलता कोई हमारे लोगों से सीखे। वाह, वाह ! हम सहना जानते हैं और सहते हुए, एक-दूसरे की सहायता भी करते हैं। वाह, वाह।'

उन्होंने फिर नीचे की ओर कनखियों से देखा। मुसाफ़िर अस्त-व्यस्त, एक-दूसरे में उलझे हुए नींद में बेहोश पड़े थे। हल्की-हल्की, मीठी-मीठी, भावना की लहरियाँ अभी भी उनके अन्दर बराबर उठती जा रही थीं, और इन लहरों पर तिरती हुई किसी कविता की दो पंक्तियाँ उभर कर आयीं और गाड़ी की लयबद्ध खट-खट के साथ मस्तिष्क में गूँजने लगीं :

'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा।'

और गद्‌गद् ने अपनी टाँगें लम्बी कर लीं।

गुजराती का दग्ध किसान कवि : रावजी पटेल

□ महावीरसिंह चौहान
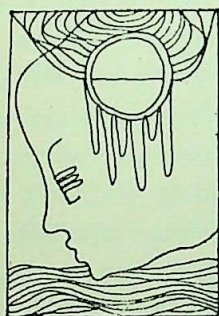
चिता

मृत्यु के तुरन्त बाद किसी युवा कवि का एकदम महत्त्वपूर्ण हो उठना मन में एक आशंका पैदा कर सकता है। वह यह कि कहीं असामयिक मृत्यु ने ही तो उसे महत्त्वपूर्ण नहीं बना दिया? गुजराती और हिन्दी के भी कुछ एक महत्त्वपूर्ण युवा कवियों की आकस्मिक मृत्यु पर प्रश्न यह भी उठता है कि अपनी प्रतिभा के विकास के महत्त्वपूर्ण चरण पर पहुँचने और अपने सम्भावनापूर्ण भविष्य के सम्बन्ध में हमें आश्वस्त कर देने के बाद कोई कवि आर्थिक विषमताओं से जूझता हुआ, क्यों अनायास मृत्यु के मुँह में चला जाता है? गुजराती के युवा कवि रावजी पटेल की कविता पर विचार करते हुए अनजाने ही मन में इस प्रकार के प्रश्न उभर आते हैं। तपेदिक की लम्बी बीमारी के बाद मात्र उन्तीस वर्ष की अवस्था में रावजी की अपेक्षाकृत घटनाविहीन मृत्यु गुजराती साहित्य की एक बहुत बड़ी दुर्घटना है। रावजी ने हिन्दी के कवि राजकमल की भाँति व्यवस्था के विरुद्ध अपने आपको तोड़ नहीं डाला, और न भुवनेश्वर की तरह उन्हें अपने स्वयं के जीवन को नष्ट करने का उत्तरदायी माना जा सकता है। वे लगभग धूमिल की तरह अपनी ज़िन्दगी के रोज़-ब-रोज़ के अभावों से लड़ते हुए क्षत-विक्षत होते रहे।

इस सच्चाई के बावजूद कि लाभशंकर, जो गुजराती के समकालीन साहित्यकारों में एक विशिष्ट रचनाकार होने के साथ ही आयुर्वेद के निष्णात भी हैं—का इलाज कराते हुए रावजी ने न तो व्यवस्थित रूप से दवाइयाँ खाईं और न बताये गये परहेज का पालन किया; वे बहुत लम्बी ज़िन्दगी जीना चाहते थे। (दृष्टव्य अंगरा की 'भयसिमन्दर' कविता) अपनी बीमारी के प्रति उनकी उदासीनता वस्तुतः जीवन के प्रति उनकी गहरी सम्पृक्ति की ही परिचायक है। क्योंकि उन पर उत्तरोत्तर मजबूत होते जाने वाले मृत्यु के पंजे का दबाव भी उनकी सृजन प्रक्रिया को अवरुद्ध नहीं कर सका। वे अन्तिम क्षण तक मृत्यु की सतत उपस्थिति में भी कवितायें लिखते रहे।

विविध पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी रावजी की कविताओं का एक और एकमात्र संकलन उनकी मृत्यु के बाद रघुवीर चौधरी ने प्रकाशित कराया। इस संकलन की कविताओं और रघुवीर चौधरी द्वारा लिखी गई इसकी महत्वपूर्ण भूमिका ने रावजी के काव्य-व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने में सहायता पहुँचाई। 'नवोन्मेष' (अद्यतन कविता के प्रतिनिधि संकलन) में सुरेश जोशी ने रावजी को युवा कविता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि घोषित किया है। इसे घोषणा नहीं कहना चाहिए, 'नवोन्मेष' की भूमिका इस आशय का संकेत भर देती है। हालांकि संकेत इतना मुखर है कि साहित्य के सामान्य विद्यार्थी के लिये भी वह अग्राह्य नहीं है। उनके इस अभिप्राय की गुजराती के पाठक और आलोचक वर्ग पर क्या प्रतिक्रिया हुई हम नहीं जानते। लेकिन हम इतना अवश्य जानते हैं कि ऐसी बातों पर गुजराती में निरर्थक किस्म की शंकायें-कुशंकायें नहीं खड़ी की जातीं। और न आलोचक पर इस प्रकार का संदेह किया जाता है कि नये भाव-बोध की कविताओं को स्वीकृति प्रदान कर वह जानबूझकर एक 'कृत्रिम भाव-बोध की वकालत कर रहा है।' या कि किसी एक को महत्वपूर्ण घोषित करने में, बिना कहे ही दूसरों को महत्वहीन बनाने की चालाकी भी उसमें शामिल है। यह एक कम सुखद घटना नहीं है कि जिस कवि की मृत्यु पर लाभशंकर जैसे मूर्ति-भंजक कवि अपने आँसू नहीं रोक पाते, रघुवीर जिसकी कविता की खुले दिल से प्रशंसा करते हैं, उसी के महत्व की उद्घोषणा सुरेश जोशी भी करते हैं। विशेषता यह है कि स्वयं लाभशंकर—रघुवीर और सुरेश जोशी की काव्य रुचियों तथा कविता के रूप, लोक और संवेदना के सम्बन्ध में उनके विचारों में काफी अन्तर है, लेकिन इस अन्तर के बावजूद उनमें एक गहरी समानता है—उनमें अच्छी कविता की एक जैसी पहचान है। उसे स्वीकृति प्रदान करने का खुलापन है। कविता के प्रति सहज विवेकपूर्ण प्रतिक्रिया जगाना ही आलोचना का मुख्य धर्म है। लेकिन हिन्दी में युवा कवियों की कविताओं के प्रति आलोचना अपने इस सहज धर्म का निर्वाह कर सकी है, यह कहने में किसी को भी संकोच ही होगा। गुजराती के इस कवि के सम्बन्ध में लिखते हुये मैं हिन्दी के एक कवि—धूमिल—को अपने दिमाग से नहीं निकाल पाता जिसका जीना-मरना तो रावजी जैसा है ही, काव्य-संवेदना और शिल्प के स्तर पर भी वह रावजी का हमसफ़र दिखाई देता है। दोनों की कविता में उनके जीवन के अभावों की प्रखर चेतना है जो एक कलात्मक स्तर पर आज के आम हिन्दुस्तानी के जीवन के अभाव से उद्भूत संघर्ष को व्यक्त करने की ईमानदार कोशिश का रूप धारण कर लेती है। ये दोनों कवि जैसे जानते थे कि वे अधिक लम्बी ज़िन्दगी लेकर नहीं आये हैं, इसीलिये जितनी जल्दी हो सका, जितना अधिक हो सका, उन्होंने अपने आपको—अपनी ज़िन्दगी के आसव को अपनी कविता में निचोड़कर रख दिया। यह नहीं कि

हिन्दी के पाठक और आलोचक ने धूमिल को पहचाना न हो। हिन्दी में इतनी कम उम्र में, इतनी कम रचनाओं पर धूमिल जैसी सहज प्रतिष्ठा शायद ही किसी अन्य कवि को मिली हो। लेकिन यह सब कुछ इस प्रकार से हुआ जैसे धूमिल की कविता पर चर्चा उठाने वाले, उस कविता का महत्व स्वीकार करने वाले किसी साहित्यिक षडयंत्र के हिस्सेदार हों।

महत्व की बात यह भी है कि सुरेश जोशी जैसे रूपवादी आलोचक को रावजी की वह कविता विशेष अच्छी लगी जिसकी संवेदना का केन्द्रीय तत्व सामाजिक व्यंग्य है। वह कविता है 'हुँशीलाल की याद में'। इसका रूप एक मरसिया—शोक-गीत का है। लेकिन रावजी ने सहज ही इस लोक-प्रचलित काव्य रूप को एक नई भंगिमा प्रदान कर दी है। सामान्यतः मृत्यु हमारे अन्दर शोक का भाव जगाती है। जीवन-काल में जिन लोगों के प्रति हमारे मन में दुर्भाव रहता है, उनकी मृत्यु के बाद हमारे मन में उनके प्रति उदारता आ जाती है। लेकिन रावजी पटेल हैं कि एक व्यक्ति की मृत्युपर हँसते हैं, हमारे अन्तरमन में हास्य की भावना जगाते हैं। सचमुच वह व्यक्ति—हुँशीलाल—व्यक्ति न रहकर एक व्यवस्था का प्रतीक बन जाता है। क्योंकि उस व्यक्ति के थूक में कुछ ऐसी असाधारणता है कि वह हमें चमत्कृत किये बिना नहीं रहती :

तुम्हारे थूक से करोड़ों कमाये जा रहे हैं
तुम्हारे थूक से बँगले बनाये जा रहे हैं

इस व्यक्ति के नाम—महात्म्य का बखान करते हुये रावजी कहते हैं—

तुम्हारा नाम मंत्रों सा रटा जाता
तुम्हारे नाम से हिजड़े कमाऊ बन गये हैं
तुम्हारे नाम की हुँडी चले परदेश में
डाकिया भी तुम्हारा नाम पहले बाँटता है।

आश्रम जिस नाम की जुगाली करते हैं, जिसके पाठ विद्यार्थियों को रटाये जाते हैं, जिसके मृत्यु-दिन पर पूरा देश शोक मनाता है, उसी के सम्बन्ध में जब रावजी कहते हैं, "तुम्हारे नाम को ही ओढ़कर कन्या कुँआरापन उतारे" तो हुँशीलाल के बहाने कवि के व्यंग्य की आँच आज की महाजनी सभ्यता के अन्तर्विरोधों और असंगतियों तक फैल जाती है। ये हुँशीलाल जूते की उभरी कील की तरह चुभते हैं। विडम्बना यह है कि रावजी इस जूते को अपने पाँव से निकाल नहीं सकते। आखिर चुभती तो कील ही है। चुभने वाली एक कील के कारण पूरे जूते को तो नहीं फेंका जा सकता। अर्थात् थोड़ी सी नुकीली असंगतियों को लेकर कवि आज की समग्र व्यवस्था का निषेध कर देने के रूमानी विद्रोही की मुद्रा धारण कर आत्म-स्फीति का प्रदर्शन नहीं करने लगता। कील चुभती है तो कवि उस चुभन की कसक में एक विचित्र प्रकार की विडम्बना का अनुभव करता है। कभी राह चलते ईंट-पत्थर लेकर उस कील को ठोंक भी देता है। कवि का यह व्यंग्य जूते की उभरी हुई कील को ठोंकने का बड़ा कारगर उपक्रम है।

सुरेश जोशी कहते हैं, 'हुँशीलाल की याद में' पुराने समाज-सुधारक कवियों जैसी सामाजिकता नहीं है। इसकी सामाजिकता कुछ अलग किस्म की है। हम उनकी इस मान्यता से असहमत नहीं होना चाहेंगे। आज जब समाज-सुधार की प्रच्छन्न भावना भी कविता के सौंदर्यात्मक, कलात्मक महत्व के प्रति आलोचकों में संदेह जगा सकती है, हम जानबूझकर

रावजी को 'समाज-सुधारक के सतही स्तर' पर खींच लाने का अपराध नहीं करेंगे।

इस बात पर असहमति हो सकती है कि रावजी की कविता का उद्देश्य आज के जीवन की असंगतियों के मूल पर चोट करना था, लेकिन यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रावजी अपने ऊपर पड़ने वाली चोटों को पहचानते थे और उन्हीं चोटों के दर्द को कविता में ढालते थे। इतने पर भी कवि की ज़िन्दगी पर—जो आज के सामान्य मनुष्य की ज़िन्दगी की परिचायक है—पड़नेवाले सतत आघातों के प्रति कवि की प्रतिक्रिया आक्रोशमूलक न होकर व्यंग्यात्मक ही अधिक है। शायद कवि की मान्यता है कि आज के जीवन की असंगतियों के प्रति आक्रोश उतना कारगर नहीं होता जितना कि व्यंग्य। इस व्यंग्य ने रावजी की कविता को सहज सोद्देश्यता—व्यक्ति या समाज जीवन के अन्तर्विरोधों को देखने-समझने की एक अतिरिक्त जागरूकता—ही प्रदान नहीं की, उन्हें एक विस्मयकारी, आत्म-सजगतापूर्ण शब्द-संयम भी प्रदान किया है। उनकी कुछ कविताओं में जैसे 'द्रोह समय के बाद' में ही 'अकवितावादी' युक्तियों का उपयोग किया गया है :

आधी रात सड़क पर बिछ हुआ
अपने घर का ताला खोलता
कामातुर पत्नी की निर्जन योनि को अवहेलता
ही ही ही !
मानुस की जात ठहरी, चुटकी भर चटपटा मसाला देख
लार टपकने लगे
माथे में, मर गये कवि की खोपड़ी गोली-सी
लगी, तब
टाइपराइटर से उठता तूफ़ान, अहमदाबाद, त्रिचनापल्ली
दिल्ली और डाकोर को चिथड़े की तरह लेकर उड़ता है
चारों ओर होता है संभोगों की
क्षणों का डिस्टरबैंस

लेकिन इन यौन-प्रतीकों के उपयोग के बाद कवि जैसे अपनी ही युक्तियों पर अफ़सोस व्यक्त करते हुए उसी कविता की अगली पंक्तियों में कहता है :

मैं टूटा हुआ तारा, भावी पीढ़ी की चिनगारी
तेज है जितना उससे ज्यादा बोलता हूँ।

आत्मालोचन की इसी प्रखर चेतना के परिणामस्वरूप, रावजी की कविता में किसी आरोपित विद्रोह की मुद्रा नहीं है। न उनमें आज के सर्वव्यापी पतन और विघटन से अपने आपको अछूता मानकर उस पर अपना निर्णय सुना देने की जल्दबाजी है। रावजी यह भी नहीं मानते हैं कि स्थितियाँ इतनी बिगड़ चुकी हैं कि उनमें सुधरने या बदलने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई। लेकिन रावजी यह अवश्य मानते थे कि आज की स्थितियों को प्रभावित करने की क्षमता कविता में नहीं है। कवि कर्म के प्रति यह एक प्रकार का निराशावादी दृष्टिकोण ही माना जायेगा। लेकिन अपनी सारी तल्ख़ी और उग्रता के बावजूद कविता की परिवर्तनकारी भूमिका के सम्बन्ध में धूमिल भी बहुत आशावादी नहीं थे। उन्होंने बड़ी निराशा के साथ कहा :

इस ससुरी कविता को
जंगल से जनता तक
ढोने से क्या होगा ?

रावजी भी मानते थे कि आज के राजनेता के सही-गलत निर्णय मानव-नियति को दूर तक प्रभावित करते हैं, लेकिन राजनेताओं के दम्भ को प्रभावित करने की क्षमता कविता में नहीं है :

कालिदास तूने जो चाहा वह कुछ भी नहीं हुआ
यहाँ तो अभी भी आदमी को तेरी तरह
दो हाथ, दो पाँव
दो आँखें और हजार झंझटें हैं
अभी भी अखबार के पन्नों पर चौकड़े बाँध-बाँधकर सभी...
दम्भ में डूबे हैं
कामरुज की हार पर नाचते हैं छोकरे।

लेकिन विरोधाभास यह कि कविता की इस असमर्थता के वाबजूद कवि की मुक्ति-संघर्ष की, अपने व्यक्तित्व की सृजनात्मक संभावनाओं के अन्वेषण की वास्तविक भूमि कविता ही है :

जीभ वेचारी वियतनामी बम्बार्डमेन्ट में
ध्वस्त घर-सी
करती है कविता की लवारी

कवि और कविता की इस ट्रेजिक भूमिका की ओर रावजी ने बार-बार निर्देश किया है :

सारा का सारा देश बैठा है गोबर पर
बम पड़े गाँव-सी
निर्जन-वीरान जीभ (कवि की)

'भूखे रिरियाते अपने वल्लवपुरा गाँव' की पीड़ा के समक्ष एक कवि के रूप में अपनी असमर्थता का अनुभव रावजी की बेचैनी को और भी अधिक तीखा बना देता है :

मैं तो मात्र
कवि—
मैं तो मात्र
ओसारे में बुसता हुआ आदिम आदमी
मैं तो मात्र...
भूखा रिरियाता मेरा वल्लवपुरा गाँव
मैं तो मात्र
खाली खुक्ख निःसहाय ओइम
लेकिन तुम्हें तो गणित की प्रश्नावलियाँ हल करनी हैं
मेरे पास नहीं वह गणित
मेरे लिये नहीं उसका अर्थ
मेरे लिये कविता का नहीं कुछ अर्थ।

कविता की सामाजिक उपयोगिता के गणित से रावजी ने भले ही अपने आपको जान-बूझकर अपरिचित रखा हो, लेकिन आज के समाज में प्रचलित शोषण के उस गणित से वे अपरिचित नहीं थे जिसके रहते गाँव का एक श्रमजीवी किसान अपने खेतों को ही नहीं, स्वयं अपने आपको भी गिरवी रखने के लिये मजबूर होता है :

कोई मेरा हाथ ले गया
हाथ खोजने हाथ उठाया
गिरवी रक्खा हाथ कहाँ है मेरा ?

अथवा

सच्चा गहना सीव
पड़ गया फीका तो गिरवी रख आये
धरा, ताल; इतिहास रखा है
गिरवी अपना
और छाँह-भी सूख गई घर की घर ही में
मूँछों वाला नाम बाप का
खतवाया उधार खाते में
मेरा ऊर्जस्वित रण-घोष पटक खा गया
निकला है यह मरा हुआ युग
बनिये के उधार खाते से ।

गुजराती के अन्य युवा कवियों की भाँति रावजी में भी अपने वर्तमान के प्रति गहरा असंतोष है। लेकिन परिस्थितिजन्य होने के कारण रावजी के असंतोष में मात्र आवेग और आवेश ही नहीं, सन्तुलन और समझदारी भी है। यदि वे अपने वर्तमान को निष्प्राण पाते हैं, तो इसलिये कि वह किसी बनिये के बहीखाते से निकला है। रावजी की कविता में एक शोषित और अभावग्रस्त किसान कवि के भोगे हुए दर्द की व्यंजना ही नहीं, उस दर्द को जन्म देनेवाली परिस्थिति को समझने की बौद्धिक प्रखरता भी है। इतिहास में भी वे इसी दर्द के दर्शन करते हैं—

छत के अँधेरे में
बैठा-बैठा देखता हूँ
मेरे पुरखे खरीदते हैं बैलों की जोड़ी
जोत-जोत मर गये
कूँड़ों में समा गये
जीवन भर हाय दैया करते-करते सो गये
सघन उगे बंजर को
खोद-खोद मर गये।

रावजी कविता की सामाजिक उपयोगिता के जिस गणित पर अपनी असहमति प्रकट करते हैं उनकी कविता अन्ततः उसी गणित से उलझने की प्रतीति कराती है। फिर भी यदि रावजी की कविता सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूकता बताने के बावजूद नीरस नहीं बनती तो इसका कारण यही है कि उनकी बात में किसी बड़े सिद्धान्त या विचार का आडम्बर

न होकर खुद के अनुभव की आँच रहती। रावजी ने लिखा है :

मुझे तो बहुत कुछ होता है कि
नजदीक बिठाकर, तेरे घर को मैं कविता की तरह
कुछ अर्थ दूँ
तेरी शय्या को कविता की गंध दूँ
किन्तु व्यर्थ
तुझे तो सँड़की का करना है अर्थ !

लेकिन रावजी की कविता में शय्या की गंध और सँड़सी के अर्थ की एक साथ अपेक्षाकृत अत्यधिक मार्मिक व्यंजना हुई है। कहना चाहिए कि सँड़सी के कसाव जैसी आधुनिक जीवन की जटिल और तनावपूर्ण स्थितियों के बीच सम्बन्धों की लुप्त होती आत्मीयता की खोज ने रावजी के काव्य-मुहावरे को अर्थ सघन बनाया है। रावजी के काव्यानुभव के वैशिष्ट्य को समझने के लिये उनकी दृष्टि और संवेदना को सृजनात्मक चेतना प्रदान करनेवाले उनके विशिष्ट समाज-शास्त्रीय संदर्भ को समझ लेना भी अनिवार्य है।

अपनी एक काव्य-पंक्ति में रावजी ने अपने आपको 'दग्ध-कृषक-कवि' कहा है। उनका यह कथन उनकी काव्य-संवेदना और शिल्प को परिभाषित करता है। गुजराती के युवा कवियों में ऐसे कुछ दूसरे कवि भी हैं जिनका खेती, किसानी के साथ सीधा सम्बन्ध है। जिनकी एक अदद ज़िन्दगी खेतों की फसलों के साथ फलती-फूलती, सूखती-मुरझाती है। लेकिन ऐसे बहुत कम कवि हैं जिनकी काव्य-संवेदना ज़िन्दगी के इस रूप से उत्तेजना ग्रहण करती हो। गाँव से शहर में आना उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व को गहराई तक प्रभावित करने वाली घटना होती है। वे आत्मीयता भरे सम्बन्धों की दुनिया से मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा से रहित एक निर्वैयक्तिक संसार में आ जाते हैं। अपने इसी अनुभव के संदर्भ में वे अपनी अस्मिता की खोज और आत्म-साक्षात्कार का उपक्रम करते हैं। लेकिन महानगरीय जीवन के सम्बन्धों की निरर्थकता के बोध के समानान्तर या उसमें दबा ढँका उनका एक दूसरा गँवई चेहरा भी होता है जो परिवार कुटुम्ब और गाँव के लोगों के साथ ही नहीं, वहाँ के खेतों, खलियानों, पेड़-पौधों के साथ भी अपने आपको सम्बन्धों के कई स्तरों पर जुड़ा हुआ अनुभव करता है। अपनी आधुनिकता की झोंक में युवा कवि प्रायः अपने इस गँवई चेहरे को देखने-पहचानने का उपक्रम नहीं करता। लेकिन रावजी की कविता में महानगरीय जीवन, विडम्बनाओं के साथ ही अपने घर, परिवार, गाँव और ग्राम्य परिवेश से कट जाने, भावनात्मक स्तर पर उनके साथ जुड़े होने पर भी सम्बन्धों का निर्वाह न करवाने की विवशता का चित्रण हुआ है। रावजी के काव्य-संसार में सर्दी में अलाव के पास बैठे बुड्ढे, गिल्ली-डंडा खेलते बच्चे, दिन भर घास काटने वाली मजदूरिन, पड़ोस में रहने वाली कच्चे आम-सी लड़की और दूसरे अनेक पहचाने जा सकने वाले चेहरे हैं। कुछ व्यक्ति विशेष भी हैं, जैसे हुँशीलाल, शंकर, प्रजापति कामराज और इन्दिरा गाँधी आदि। इन सबके होने से रावजी की काव्य-संवेदना अपने अन्य समकालीन युवा कवियों से कुछ भिन्न-स्तर पर संचरण करने का बोध कराती है। उनकी कविता मानव-शून्य और सपाट न रहकर बनते-बिगड़ते मानवीय सम्बन्धों के उत्तेजनापूर्ण अनुभव से गुजरने का अहसास जगाती है। कवि के जीवन में अभी भी इतनी भावुकता शेष है कि वह 'बरोठा सूँघने वाले चाँद' की उत्कंठा पहचान ले। रात-रात भर कवि के लिये जागती रहनेवाली, उसकी

पत्नी अपने आत्मत्याग से उसे बन्दूक की गोली की तरह घायल करती है :

पढ़ते हुये पत्र लगा कि जैसे
कुछ रह गया शेष, मैं देखता हूँ,
इधर-उधर, बाहर, दूर, नजदीक
यह पास बिस्तर के जो खड़ी है
बन्दूक, निर्बल बनी जागरण से
पत्नी, हुआ मैं घायल दुबारा।

रूमानी अतिरंजना से नितान्त भिन्न स्तर पर इस 'घायल' होने की विवशता में जीवन के अनेक दर्दपूर्ण और मधुर जीवन-प्रसंगों की संश्लिष्ट व्यंजना समाहित है।

नारी और यौन-संबन्धों को लेकर 'अद्यतन' कविता में जो अतिरंजनापूर्ण आत्म-प्रदर्शन का भाव है, उससे रावजी की कविता पूर्णतः मुक्त है। नारी को लेकर रावजी में कोई आक्रामकता का भाव नहीं है। वह आज भी कवि के जीवन में हर्ष-उल्लास, शोक-विषाद की अनेक अविस्मरणीय भाव-स्थितियाँ जगाती है।

'अंगत' की कविता में श्री रघुवीर चौधरी ने लिखा है कि रावजी को आधुनिक पश्चिमी साहित्य का विशेष परिचय नहीं था। उन्हें यह सुविधा भी उपलब्ध नहीं थी कि वे पश्चिमी साहित्य का निकट परिचय प्राप्त कर सकते। फिर भी रावजी की कविता आधुनिक परिवेश की घिरावपूर्ण परिस्थितियों की अपरिहार्य विवशता से जूझते व्यक्ति मन की दुश्चिन्ताओं, भावगत उथल-पुथल और बौद्धिक संघर्ष की बड़ी विश्वसनीय पहचान कराती है। रावजी की आधुनिकता परिस्थिति जन्य है, वह कोई ऊपर से आरोपित तत्व या आत्म-प्रदर्शन की कामनापूर्ति के लिये पहना गया मुखौटा नहीं है। वस्तुतः रावजी तथा उन 'अद्यतन' कवियों की संवेदना और शिल्प का—जिनमें समकालीन पश्चिमी साहित्य का सम्पर्क एक नये प्रकार की आत्मसजगता पैदा करता है—तुलनात्मक अध्ययन हमें कुछ दिलचस्प नतीजों तक पहुँचा सकता है। प्रस्तुत लेख में इस प्रकार के अध्ययन का अवकाश नहीं है। लेकिन इस सम्बन्ध में हमें मुक्तिबोध की एक चेतावनी बार-बार याद आती है। पश्चिमी प्रभाव को लेकर उन्होंने लिखा था—'पश्चिम का सम्पर्क कलात्मक रूपों के अन्वेषण और अभिव्यक्ति के साधन जुटाने में हमारे लिये सहायक हो सकता है, पर जीवन के सीधे साक्षात्कर से उद्भूत हमारे मूल उद्वेग का स्थान नहीं ले सकता।' रावजी की भावात्मक ऊर्जा उनकी अपनी है। उसे मूर्तरूप प्रदान करने के कलात्मक उपकरण भी वे अपनी रोजमर्रा की जीवन सामग्री से जुटा लेते हैं। वे अपनी काव्य-सामग्री का कुछ ऐसा कल्पनापूर्ण उपयोग करते हैं कि सामान्य से दीखनेवाले शब्द बिम्ब भी उनकी कविता में असाधारण चमत्कार पैदा कर देते हैं :

हनुमान जी के पत्थर-सा मुझे देख
लोग कुछ खुश हुये
पर
इन लोगों को किस तरह समझाऊँ कि
कि तीन-चार बसें चूक
यहाँ आ सका हूँ मैं

अपनी ग्रामीण अनपढ़ता के कारण वे जहाँ भाषा में 'भदेस' लगते हैं, वहाँ भी उनमें

किसी व्यापक सच्चाई की ओर सीधा संकेत या व्यक्ति और समाज-जीवन की किसी असंगति पर तीखा व्यंग्य मौजूद रहता है :

मूतते-मूतते देखी थी झोंपड़ी
बँगला बन चुकी है वह ।

रावजी आज की व्यवस्था में छिपे निहित स्वार्थों के चेहरों से परिचित हैं। वे 'गणतंत्र' 'गाँधीवाद' और 'समाजवाद' की स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों पर कोई सीधी-सीधी टिप्पणी नहीं करते, लेकिन आज की 'चार वरों वाली क्वाँरी कन्या' जैसी व्यवस्था की 'पवित्रता' की असलियत वे खूब पहचानते हैं :

क्वाँरी के चार वर
मरे नहीं कोई।

कवि के अनुभव के साथ सामाजिक अनुभव का भी समावेश कर लेने वाली रावजी की भाषा में अर्थ-संकुलता और व्यंग्य का प्रभावशाली मिश्रण हुआ है। उनकी काव्य भाषा कीं अछूती बिम्ब और प्रतीक योजना आज के जीवन के अभावों का उद्घाटन तो करती ही है, कभी-कभी उन पर तीखी टिप्पणी भी बन जाती है।

रावजी का एक प्रिय प्रतीक है घास। घास में उन्होंने अपने जीवन की अनुरूपता के दर्शन किये हैं। सचमुच उनकी कविता में घास की कोमलता के साथ संघर्षशील, अपराजेय जिजीविषा के भी दर्शन होते हैं।

बंगला कविता का कालान्तर : तीन कवियों की दृष्टि में

□ डॉ० इन्द्रनाथ चौधुरी

बंगला कविता के साम्प्रतिक मानचित्र से जो परिचित हैं वे जानते हैं कि वह काफी व्याप्त एवं बहुमात्रिक है। कवि शब्दों के तेज़ घोड़े पर चढ़कर इतिहास-भूगोल के सुदूर भूमिखंड पर विजय प्राप्त करते हुए गाँव-कस्बे की धूलि ओढ़ते हुए, देशज संस्कृति का हाथ पकड़े हुए कब अचानक उषाकालीन भारतवर्ष की पवित्र गायत्री-भूमि पर पहुँच जाएँगे इसका पता नहीं चलता। प्रात्यहिक-समसामयिकता के साथ मिथकों की शाश्वता के संघर्ष से कविता का कालान्तर हुआ है और नाना प्रकार की विविधता दिखाई पड़ने लगी है। सन् ७९-८० में प्रकाशित अरुण बसु की काव्य-पुस्तक 'अनुशासन व्यतीत आज' से कुछ पंक्तियाँ हैं :

> अभी—तुम अनन्त तत्व के निकट
> प्रेमिका के कंकाल और कटोरी की तरह
> तुम वही एथेन्स के महाज्ञानी
> महात्मा का दुःख छीन हुआ प्रतिध्वनि मात्र
> तुम जग उठो एक बार !

यह सही है कि जातीय अवचेतन में ऐतिह्य के अनुषंग छिपे रहते हैं जिनको कवि मिथकों की सहायता से प्रकट करता हुआ कविता के पाठक को कविता का विषय बनाने का प्रयत्न करता है मगर यह ऐतिह्य एक देशकाल में बँधा समय है। इसीलिए आज का बंगला कवि इस देश-

निहित समय को स्पष्ट रूप से देशोत्तर समय के सामने लाकर खड़ा करता है—उज्जयिनी के साथ यूनान मिल जाता है, चेतना की एक साँस में उर्वशी और आर्टेमिस बँध जाते हैं। केवल ऐतिह्य नहीं कवि अब प्रवहमान विश्वकाल को अपने में समाना चाहता है और इन दोनों के निरंतर संघर्ष से आज की आधुनिकता पैदा होती है। सन् ७९-८० में प्रकाशित आलोकरंजन दासगुप्त का काव्य-ग्रंथ 'लघु संगीत भोरेर हाओयार मुखे' की भी यही रीति है :

आंद्रे ज़ीद के जर्नल में संकोच था।
संशय से मुझे साहस मिला
हृदय में गुरुगंभीर मृदंग बज उठा
फिर भी आगे बढ़कर मैंने नीला उत्तरीय छू डाला।

मगर ये कवि यह कभी नहीं भूलते कि एक ओर देशनिहित काल और दूसरी ओर देशोत्तर काल को पकड़ते हुए भी वे खड़े हैं अस्थिर समसामयिकता के संकट के ऊपर। समय का यह जटिल प्रत्याघात ही कविता को एक मुहूर्त से दूसरे मुहूर्त की ओर संचारित करता है। इसी समय प्रकाशित शंख घोष ने 'पांजरे दांड़रे शब्द' में इसी वर्तमान की निर्मम अभिव्यक्ति की है :

पंजर में लग्गी चलने की आवाज़, खून में पानी छलछला उठता है,
नाव के किनारे से कृष्णा प्रतिपद चमकता है
जलज गुल्म के बोझ से सारा शरीर दबा हुआ
मेरा अतीत नहीं, भविष्य भी कहीं नहीं है।

मगर क्या समसामयिकता प्रच्छद मात्र नहीं है? मनुष्य के जीवन को पकड़े रहने का मात्र बाहरी तरीका नहीं है? मायकोवस्की ने इसीलिए लिखा था :

प्रात्यहिक के शिला स्तूप से टकराकर मेरी प्यार
की नौका टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गई है।

वस्तुतः समसामयिकता जहाँ एक मुहूर्त से दूसरे मुहूर्त तक कविता को नहीं पहुँचाती वहाँ आधुनिकता में कहीं बद्धता आ जाती है। हमारी प्रत्याशा को, हमारे विश्वास को या हमारी परिणति को जो एकदम अंदर से प्रकट नहीं करता उसमें दम नहीं होता। अख़बार की तरह बिल्कुल समसामयिक बनी रहे कविता यह कोई नहीं चाहता। अंतरंग सत्ता (माइक्रोकास्म) तथा बहिरंग सत्ता (मैक्रोकास्म) के सहारे जो कवि-निर्मित दुनिया (हेट्राकास्म) का निर्माण नहीं करता वह कभी भी पाठक की निःस्तृत सत्ता से पाठक का परिचय नहीं करा पाता। प्यार की तरह कविता भी अपने को अपने से निकालने का एक तरीका है, पाठक के रूप में हमारी उस निःसृत सत्ता को ही हम कवि-निर्मित दुनिया में ढूँढ निकालते हैं।

मगर क्या कवि-निर्मित दुनिया पाठक के साथ कोई एकात्मकता की भाव-भूमि रचने की ओर ध्यान देती है? इन तीनों कवियों की कुछ पंक्तियाँ हैं :

सनत्कुमार तुम भूतसमूह के प्रति
मुझे वापिस कर दो जल तर्पण का पुण्य सलिल।

अथवा शंखघोष की कुछ पंक्तियाँ :

वृत्त के भीतर वृत्त अंकित हो चुका है पानी अंकित
पानी के भीतर में मेरे ऊपर पानी बढ़ता
छोटे-छोटे बहाव से वृत्त टूट वृत्त बढ़ जाता

अचानक जलस्रोत से समस्त वृत्त का अवसान।

या फिर आलोकरंजन की कुछ पंक्तियाँ :

तुम्हारे नाम पर धरित्री ने खोला है
मेरे लिए सिंहद्वार, गंगोत्री के मुहाने पर
तुम्हारे नाम पर तीन हिरण काफी तेज़
खेल से हटकर घूमने के लिए उत्सुक हो उठे हैं।

सवाल है कि एकात्मकता के लिए क्या कवि को आग्रही होना ज़रूरी है और फिर एकात्मकता किसके साथ ? पॉल वैलेरी ने कहा था कि कवि का हृदय यदि तुम्हारे से अधिक गहरा, तेज़, अनुशासित हो तो उस संबंध में कुछ किया नहीं जा सकता। दुर्बोध्य या अवोध्य का प्रश्न नई कविता की शुरूआत से ही बहस बन चुका है। मगर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन के क्षेत्र में जिस युक्ति-शृङ्खला का प्रयोग करके हम जो कुछ समझ पाते हैं उसके आधार पर कविता को समझना असंभव है। कलिंगउड ने जिसे चैतन्य का भ्रष्टाचार कहा है उसके घट जाने पर प्रत्येक युग के तरुण लेखक तब चैतन्य को दोबारा संजीवित करने के लिए नई प्रकाश पद्धति को ढूँढते हैं और भ्रष्ट चेतन सामाजिकों के लिए वही दुर्बोध्य बन जाता है। युग परिवर्तन के साथ-साथ, जैसा कि कलिंगउड कहते हैं, हम नये आवेग पुंज अर्जन करते हैं, और अर्जन करते हैं उस नवावेग को प्रकट करने के नये-नये उपाय। जो पुराने आवेग में अभ्यस्त हो जाते हैं उनके लिए नई प्रकाश-भंगिमा दुर्बोध्य प्रतीत होती है। यह सही है कि भाषा के जिन शब्दों का प्रयोग करके दार्शनिक वैज्ञानिक अपने निबंधों में विचारों का विस्तार करते हैं उन्हीं शब्दों के द्वारा कविता तैयार होती है मगर इन शब्दों के व्यवहार में गहरा फर्क होता है। दार्शनिक वैज्ञानिक निबंधों में शब्दों का इस्तेमाल युक्ति-प्रतीक (Discursive Symbol) के रूप में होता है, मगर कविता में वे ही शब्द रूप—प्रतीक (Presentational symbol) के रूप में इस्तमाल किये जाते हैं। पहले प्रकार में शब्द मात्र अर्थमय होते हैं मगर दूसरे में शब्दों में अर्थ के साथ संगीत की तरंग और चित्र की आभा दिखाई पड़ती है जिसमें एकक और अनन्य साधारण सत्य का संधान मिलता है और जिससे युक्ति विन्यास के समस्त सरलीकरण और साधारणीकरण छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और तब पाठक यदि उसे दुर्बोध्य कहे तो उसके लिए कवि को दोष नहीं दिया जा सकता।

सर्वव्यापी विच्छिन्नता के इस युग में कवि वृहत्तर जन सम्प्रदाय से अलग होता चला जा रहा है। धनतांत्रिक व्यवस्था, यांत्रिक उत्पादन, अथवा गणतांत्रिक असहनीय समता, जिसको किर्केगार्ड साम्य का अत्याचार कहते हैं, के फलस्वरूप युगपरिवर्तन हो रहा है, नये आवेग-पुंज हमें छाए जा रहे हैं और उसे प्रकट करने के लिए नयी प्रकाशरीति अपनायी जा रही है। इस युग-चैतन्य को जो आत्मसात् नहीं कर पाते उनके लिए यह नयी प्रकाशभंगिमा दुर्बोध्य प्रतीत होती है। मगर कवि आज विशेषीकरण की दुनिया में बैठा हुआ उद्धृति-उल्लेख की सहायता से, अप्रचलित आभिधानिक शब्दों का प्रयोग करके, वाक्य-विन्यास और शब्द-विन्यास की प्रणाली को तोड़कर, भाषा को प्रयोजन के अनुसार युक्ति और व्याकरण के शासन से मुक्त करके अपनी काव्य-कला को एक विशेष विद्यानुशासन में रूपान्तरित कर रहा है। इसीलिए आलोकरंजन दासगुप्त जब जम्बू, प्लक्ष शाल्मली आदि सात द्वीपों का उल्लेख करते हुए ऐतरेय आरण्यक की 'श्रावणराजि' की बात करते हैं या फिर शंख घोष "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्

निबोध" का मंत्र दोहराते हैं या अरुण वसु सन्त कुमार, वियात्रिच, बाहमनि तथा सातपुरा का हवाला देते हैं तो ऐसा लगता है कि साधारण काव्यबोधहीन अलस अज्ञानी पाठक की स्थूल समझदारी से वह आत्मरक्षा का प्रयास है और दूसरी ओर जाति और सभ्यता के दीर्घकाल व्यापी ऐतिह्य की सहायता से आज के काल को चिरकाल का अंश प्रमाणित करना है। इसीलिए आज जिसने जितना अधिक ज्ञान का संचय किया है वह उतना अधिक आधुनिक कविता का अच्छा पाठक बन सका है। कभी-कभी पात्र एक वाक्य की सहायता से कवि के द्वारा निर्मित समस्त परिमंडल रूप ग्रहण करता है। आलोकरंजन जब कहते हैं :

हाथ से पानी का गिलास उलटते ही
अचानक भारतवर्ष का एक एकाकार
मानचित्र प्रकट हुआ
उसके बाद सारे दुःखी देश मिलकर तीसरी दुनिया

मगर अन्त की यतिचिह्न विहीन पंक्ति :

भारतवर्ष से भी दुःखी देश मेरा हृदय

अपनी अनुभूति के आदिगंत की सहायता से व्याकुलता का संचार करती है। इसी तरह की और एक पंक्ति शंख घोष की :

तुम्हारी उँगली में मैंने कल रात ईश्वर को देखा था।

कभी मात्र एक शब्द के द्वारा भाषा और संस्कृति का संपूर्ण इतिहास स्पन्दित होने लगता है और पाठक के मन में स्पन्दन जग पड़ता है :

अधिक नहीं, आधी रात को पार होंगे जयदेव, अजय।

इस पंक्ति में जयदेव और अजय (नदी) ऐसे शब्द हैं।

कवि चित्त के चेतन और अचेतन शक्ति-समूह आत्मप्रकाश के मुहूर्त में अपने पारस्परिक संपर्क के बीच से एक संपूर्ण आकार लाभ करते हैं, यूँग की भाषा में 'Momentarily Constellated' होते हैं एवं उस आलोड़न के फलस्वरूप जब समस्त अवान्तर दूर हो जाते हैं तब एक बिम्ब जन्म लेता है। कभी-कभी कवि स्वेच्छा से इस सम्पर्क की जटिलता से एवं भाषा के नियमों से तथा समस्त संघठनों से मुक्त एक उपलब्ध अन्तर्दृष्टि को अचानक आभासित मुहूर्त के बीच से प्रकट करना चाहते हैं और तब बिम्ब साकार होकर अतिरिक्त व्यंजित हो उठता है। शंख घोष का एक ऐसा बिम्ब है :

लालटेन हिलाते हुए ग्रामान्तर के शववाहक आते हैं
गुलाब जलाते ही स्तव का मुहूर्त टूट जाता है।

किन्तु तत्व एवं विशुद्धि की दृष्टि से कविता के संघटन को अस्वीकार करने पर भी बिम्ब योजना जीवन की वास्तविकता को यानि अर्थमयता को नकार नहीं सकती। जितने दिन कविता में शब्द इस्तमाल होंगे और शब्द जितने दिन अर्थमय रहेंगे उतने दिन कविता का अर्थ निकालते हुए युक्तितर्क का सहारा लेना ही पड़ेगा। दरअसल आज के कवि ने गद्यमयता के विरोध में शुद्ध कविता के नाम पर इस प्रकार के बिम्बों का प्रयोग शुरू किया है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में जब छन्द-मुक्त कविता लिखी जाने लगी तो कवियों ने देखा कि उस छन्द मुक्ति के कारण कविता पूरे तौर पर गद्य बनती जा रही है। कवियों ने देखा कि सारी गड़बड़ी की जड़ शब्दों की अर्थ-मयता है क्योंकि अर्थ की गलियों से कविता में गद्य प्रवेश करता है और उसकी शुद्धता को नष्ट

करता है। इसीलिए आज का कवि शब्द के अर्थगुण को यथासंभव दूर हटाए रखता है और उसकी चित्रात्मकता तथा संगीतमयता पर बल देता है और इसीलिए भाषा की स्थितावस्था, व्याकरण के शासन, युक्ति के आधार को तोड़ने में वह संकोच नहीं करता। आलोकरंजन दासगुप्त की कुछ इस प्रकार की पंक्तियाँ :

> एक चरवाहा अपनी बांसुरी फेंक कर
> नयी भूमिका ओढ़ लेता है :
> एक युक्ति जाग्रत प्रहरी।
> जिनको बचाने के लिए यह भूमिका थी वे सब खूनी
> उससे बहुत ज़्यादा दूर रहे।
> बाँसुरी को मृतदेह समझकर सातसो पतंग
> उसे लादकर ले गए जैसे ही चरवाहे ने समयानुसार गाना
> शुरू किया, समवेत श्रोताओं ने कहा 'बोरिंग'।

इसीलिए मैक्लीश ने कहा था, "A poem should not mean/But be। कविता का अर्थबोध उतना ज़रूरी नहीं जितना कि वह रचना कविता बन पायी है या नहीं। मगर कविता अपनी सत्ता (Being) में से अर्थ (Meaning) को निकाल नहीं सकती। कविता में चित्रात्मकता आ सकती है मगर वह चित्र नहीं, संगीतात्मकता आ सकती हैं मगर वह संगीत नहीं कविता अपनी इस सीमा को तभी पार कर पाती है जब वह अर्थमयता के अंकुश को स्वीकारती है। आज की श्रेष्ठ कविता यही प्रमाणित करती है कि शब्द के अर्थगुण को मानते हुए भी श्रेष्ठ-कविता लिखी जा सकती है। मगर कविता का अर्थ युक्ति-तर्क आधारित अर्थ नहीं होता क्योंकि वह तर्कमयता को आत्मसात् कर काव्यबोध कराती है। मारित्यं के शब्दों में, The poetic sense alone gleams in the dark और इसीलिए उस काव्यबोध को छट त्योहार में करोड़ों अरबों पानी में बहते दिए' (आलोकरंजन) की तरह उपलब्ध करना पड़ता है। कविता के लिए शुद्धता या अशुद्धता बड़ी बात नहीं, बड़ी बात है उसे संप्रेषित करना मगर इस समस्या के साथ जुड़ी हुई है आइडेंटिटी क्राइसिस की समस्या और इसी के फलस्वरूप वक्तव्य में अनिश्चयता आ जाती है। यह हम मानते हैं कि आधुनिक कवयित्री का जगत् काफी अधिक जटिल है, द्विधाग्रस्त, यंत्रणा, और संशययुक्त है। व्यक्ति और बाहर के जगत् के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप प्रश्न हीन बनना नामुमकिन है और प्रश्न में ही अनिश्चयता के बीज छिपे मिलते हैं। यह अनिश्चयता जहां अरुणवसु को व्यायाम की ओर अग्रसर कराती है वहां आलोकरंजन तथा शंख घोष को अवचेतन के प्रति आत्मसमर्पित कराती है। इन दोनों कवियों के आलोचित काव्यग्रन्थों में कविता का संक्षिप्त आकारधारण करने के पीछे अवचेतन के सम्मुख आत्मसमर्पण और बुद्धि-चेतनता में अविश्वास ही प्रकट होता है। इनकी भाषा प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती हुई बिम्बों की सृष्टि करती है और बिम्ब जब स्वाधीन होकर प्रतीक की रचना करते हैं तब उसके माध्यम से एक ऐसे भाव मंडल की सृष्टि होती है जो सीमाबद्धता में भी असीम का दिग्दर्शन कराती है। शंख घोष के काव्य-ग्रन्थ में 'जल' का प्रतीकात्मक प्रयोग बार-बार हुआ है :

> बस्ती की सीमा ख़तम हो चुकी है। हम कुछ एक सिमटकर बैठे हैं
> हमें घेरे हुए हैं घने बिछे डेढ़ सौ मंदिर

कोई आना जाना नहीं, मरा पानी हरा हो गया है

दरवाज़ा खुलने की आवाज़ से शिवलिंग पर चिमगादड़ की छाया

मूल कविता के छब्बीस शब्दों में एक ऐसी पूर्णता है जो कवि आत्मसचेतनता की गति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कराती हैं। शब्द के व्यक्तार्थ को अक्षुण्ण रखते हुए उसके गूढ़ार्थ में जो परिवर्तन आया है आज के ये दो कवि अपनी पूरी संवेदना के द्वारा उसे उद्भासित करते हैं और इस संवेदीता में उनकी आधुनिकता छलक उठती है। पानी जो कभी जीवन की गतिमयता, जीवन्तता का प्रतीक था अब मरी हुई सभ्यता का प्रतीक बन गया है और इस स्थिति में आज का आदमी 'शिवलिंग' की तरह अस्तित्व की आदिमता पर संकट की छाया को लटकते हुए अनुभव कर रहा है। इनकी कविताएँ मानों इसी कालान्तर की साक्षी हैं।*

---

*१. लघु संगीत भोरे-भोरे हाओयार मुखे, आलोकरंजन दासगुप्त, प्रभा, कलकत्ता-१७, सन् १९७९।

२. पांजरे दांडेर शब्द, शंख घोष, देज पब्लिशिंग, कलकत्ता-१३, सन् १९८०।

३. अनुशासन व्यतीत आज, अरुण वसु, नीलांजन, कलकत्ता-१३, सन् १९७९।

दलित वर्ग की संवेदना के रू-ब-रू : अछूत

□ गिरिराज किशोर

किताब
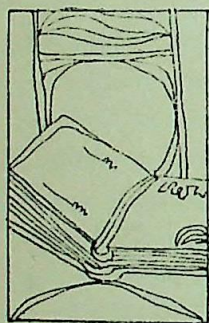
ब्लर्ब मैटर में 'अछूत' को मराठी के 'दलित-लेखक' दयापवार के 'आत्मकथ्यात्मक' उपन्यास की संज्ञा दी गई है। लेखक के साथ दलित विशेषण थोड़ा परेशान करने वाला लगता है। चूँकि यह ब्लर्ब मैटर है इसलिये उसके बारे में गर्द-गुबार उठाना कोई मायने नहीं रखता।

जहाँ तक रचना का सवाल है उसके बारे में भी स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं मालूम पड़ती कि वह उपन्यास है या आत्मकथा। आत्मकथा और उपन्यास में कम अन्तर नहीं होता। आत्मकथा की ज़रूरतें और उपन्यास की ज़रूरतें भी एक सी नहीं होतीं। आत्म-कथा की ज़रूरत अधिक सच्चाई और अधिक तात्विकता है जबकि उपन्यास में बहुत से सोते आकर मिलते हैं जिनमें कल्पना और लेखकीय दृष्टि मुख्य होते हैं।

दरअसल कुछ रचनायें ऐसी होती हैं जो एक बड़ी संभावनाशील रचनात्मकता के सबूत इकट्ठा करती चलती हैं और ऐसे प्रमाण पेश करती हैं कि यदि लेखक की सृजनात्मक आयु लम्बी हुई और लेखन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता बनी रही तो शायद लेखन की सार्थकता उसके लिए सध जाये। दयापवार का यह उपन्यास कुछ ऐसी ही संभावनायें और सबूत उपस्थित करता है।

'अछूत' उपन्यास एक ऐसा उपन्यास है जिसके बारे में प्रशंसा की बहुत-सी बातें कही और सुनी जा सकती हैं। वास्तव में यह मानने में किसी को भी शंका नहीं हो सकती कि दया पवार का यह उपन्यास एक अच्छा उपन्यास है। समाज के एक नये पक्ष को उजागर करता है

'अछूत'—लेखक : दयापवार, प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : २५ रु०

तथा पीड़ा और संघर्ष के बिल्कुल नये रूप से साक्षात्कार कराता है। स्वानुभूत सत्य किसी भी रूप में सामने क्यों न आये वह निश्चित रूप से पाठक को अपने से जोड़ने की सामर्थ्य रखता है। आत्मवेदना चाहे उतनी व्यापक न हो पर संवेदना की व्यापकता असीम होती है। यह बात दूसरी है कि उसका प्लावन धीरे-धीरे होता हो। संवेदना का सम्पर्क भाग मनुष्य का कायाकल्प कर देता है। यह स्थिति काफ़ी सीमा तक इस उपन्यास में समाई हुई है। ऐसे स्थलों पर जहाँ उपन्यास को किस्सागोई पूरी तरह ग्रस लेती है संवेदनशील पाठक की संवेदना वहाँ पर भी बनी रहती है।

काबाखाना एक बहुत संभावनाशील स्थल है परन्तु न जाने क्यों उसका रचनात्मक आविष्कार बहुत ही आंशिक और एकांगी ढंग से किया गया है। यह बात रचनाकार की दृष्टि से और पाठक की दृष्टि से भी थोड़ा आश्चर्य में डालने वाली है। ऐसा लगता है कि लेखक ने उसे उतना ही देखा जितना आत्मकथा के लिए ज़रूरी था। यदि उपन्यासकार की दृष्टि से देखा गया होता तो काबाखाना का विस्तार काबाखाना के महत्व के अनुसार ही उपन्यास में भी हुआ होता। काबाखाना एक बहुत ही संवेदनशील और संभावनापूर्ण स्थल है जिसका रचनाकार ने बिना उसका दोहन किये छोड़ दिया। दरअसल उसने उतना ही देखा जितना उससे संबंधित था। लगता है वह एक शर्मीले बूढ़े की तरह गर्दन नीची किये काबाखाना के अंचल से निकलता रहा। नज़र उठाकर इधर-उधर बिल्कुल नहीं देखा। मूल्य और आर्थिक परिवर्तन के इस स्थल को इस तरह मात्र छूकर छोड़ देना थोड़ा आश्चर्यचकित करने वाली चीज़ लगती है। रचनाकार के रचनात्मक दायित्व और उसकी दृष्टि का प्रश्न यहीं पर उठता है। वह सब भी उसे दिखाई पड़ता है जो मनुष्य को सामान्यतया दिखलाई नहीं पड़ता। तकलीफ़, भोग, सामर्थ्य, असामर्थ्य जिनको भोगते जाने के बाद भी लोग महसूस नहीं कर पाते रचनाकार संवेदना के स्तर पर उन सबको भोगता है और वहन करता है। इसका कारण मात्र है कि रचनाकार हर प्रकार के भोग को अपना बनाकर उससे खुली आँखों अपने को जोड़ सकने की सामर्थ्य अपने अन्दर पैदा कर लेता है।

काबाखाना ने आकर्षित बहुत किया परन्तु न तो वह संवेदना का अंश बन पाया और न अनुभव का। इर्द-गुर्द ऐसे बहुत से बिन्दु थे—जिनसे बहुत सी किरणें फूट सकती थीं। काबाखाना रचनाकार के अनुभव का उस तरह अंग नहीं बन पाया जिस प्रकार महारवाड़ा को बनाने की कोशिश की गई है। शायद इसलिए कि काबाखाना एक प्रवास स्थल है जबकि महारवाड़ा रोटी-बेटी से जुड़ी उसकी अपनी धरती है। उसका नास्टैलजिक मनोभाव से जुड़ा होना स्वाभाविक है। लेकिन रचनाकार की संवेदना तभी सार्थक होती है जब वह अपनी संवेदनशीलता हर उस व्यक्ति और स्थल को बाँटता चलता है जो उसकी रचनात्मक यात्रा में पड़ते जाते हैं।

लेकिन इसी के साथ-साथ काबाखाना सम्बन्धों की व्यवहारिकता उजागर करने का एक महत्वपूर्ण दायित्व वहन करता नज़र आता है। संबन्धों की यह व्यवहारिकता एकदम खोटी है परन्तु महारवाड़ के जीवन की सरलता और निर्मलता के साथ एक तरह का कन्ट्रास्ट उत्पन्न करने का दायित्व भी निबाहती है। महारवंश और महारवाड़ के लोगों के जीवन के अंतरंग प्रसंग इन्सानी सहनशीलता की अन्तिम सीमा तक ले जाकर यह पूछते मालूम पड़ते हैं कि कौन माई का लाल है जो पीडा के इस छोर तक आकर साबित वापिस लौट सकता हो ? केवल हम, यानी महार ! परन्तु सहनशीलता की यह सामर्थ्य आगे आने वाली पीढ़ी में धीरे-धीरे कम होती

जाती है और पता चलता है कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते महारवाड़ खाली हो जाता है। केवल वे ही दो-चार बुढ़ियायें पड़ी रह जाती हैं जिन्होंने अपने अच्छे दिनों में महार होने के वंश को अपनी सम्पूर्ण सहनशीलता के साथ भोगा था। कुछ ऐसा लगता है कि महारवाड़ और सहन-शीलता पर्याय हैं।

महार-नायक मध्यम वर्गीय कुंठाओं और मूल्यों के पोषक के रूप में सामने आता है। नायक दगड़ू का विवाह महार-कन्या सई से होता है। चूँकि नायक पढ़ा-लिखा है इसलिए पत्नी के ऊपर विश्वास करने का पूरा ड्रामा करता है। उसे अपने एक मुसलमान मित्र से मिलते रहने की पूरी छूट देता है। परन्तु उसका शंकालु हृदय उसका पीछा करता है और जब बाज़ार में बात करते देख लेता है तो उसे सहन नहीं कर पाता। उसे उसके पीहर छोड़ आता है। नारी स्वतंत्रता का ड्रामा और फिर उसे छोड़ना यह दोनों बातें मध्यवर्गीय नैतिकता के सटीक उदा-हरण हैं। महार समाज में पति के मर जाने के बाद स्त्री के द्वारा विवाह कर लेना कोई टेबू नहीं। परन्तु इस उपन्यास से वह खुला महार समाज भी उसी मध्यवर्गीय घटाटोप में था जिसमें स्वयं मध्यवर्ग अपनी लिजलिजी नैतिकता के कारण बँधा पड़ा है और जिसे सभ्यता का एक चमकीला पक्ष मानता है। यह एक ख़तरनाक स्थिति है। मारुति (दगड़ू का पिता) एक दर-मियने रईस आदमी की तरह पैसा लुटाने में विश्वास करता है। दावतें करता है। साथ ही चोरी भी करता है। इन दोनों मानसिकताओं का अन्तर्द्वन्द्व उसे अन्ततः शराबी बना देता है और वह एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मर जाता है। दगडू की माँ एक मध्य-वर्गीय परिवार की बहू की तरह पति के मरने के बाद विवाह न करने का निर्णय ले लेती है। वह उसे हर तरह निबाहती है जबकि सई पति के जीवित रहते दूसरा विवाह कर लेती है। यद्यपि उसका नया पति बूढ़ा है। सई का पहला पति यानी नायक दगड़ू अपनी बिटिया को याद ही करता रह जाता है और उसकी अपनी बच्ची का प्यार भी उस लक्ष्मण रेखा को पार करने में सहायक नहीं हो पाता जो उसने स्वयं अपनी मानसिक संकीर्णता के फलस्वरूप खींच ली थी। 'बेटा' चूँकि पढ़ा लिखा है, चाहता है कि उसकी माँ कागज़ इकट्ठे करके बेचने का धंधा न करे पर वह करती है। यह माँ का अपना संस्कार है। यहाँ पर वह अपने बेटे के नये बनने वाले मध्यवर्गीय संस्कारों से प्रभावित नहीं होती। दगड़ू की माँ के पास आर्थिक आत्मनिर्भरता का यह तर्क अन्य सभी पात्रों से कहीं अधिक सार्थक रूप में मौजूद रहता है। लेकिन बेटा दिन पर दिन मध्यवर्गीय कुंठाओं के जंगल में फँसता चला जाता है और महार समाज से मिलने वाली सम्पूर्ण संघर्षशील परंपरा को मध्यवर्गीय लिजलिजी और कमजोर अवसरवादिता का शिकार हो जाने देता है। शायद यह एक वास्तविकता है कि इस प्रकार के समाज से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण नयी पीढ़ी अपने आपको मध्यवर्गी बनाने की जुस्तजू में लगी है। सही रूप से संघर्ष द्वारा आने वाले नये संभावित परिवर्तन से अपने को नहीं जोड़ रही।

यद्यपि दगड़ू अपने आपको बुद्ध के अनुयायी के रूप में प्रस्तुत करता है परन्तु पत्नी का परित्याग उसे राम का अनुयायी बना देता है। वेश्या वृत्ति करने वाली मौसी से कपड़े आदि लेने के लिए दूसरे दिन भी वह उस बाज़ार में पहुँचने का साहस करता है जहाँ वेश्यायें रहती हैं परन्तु जब वह विषम स्थिति में एक अन्य स्थान पर वेश्या मौसी को देखता है तो अनदेखा कर देता है। इस उपन्यास में एक बात जो महत्वपूर्ण और सही लगती है वह है कि जो भी वर्ग हज़ारों साल के संघर्ष के बाद अपने आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाने की स्थिति

में आता है उसे मध्यवर्ग का तिलिस्म अपनी ओर खींचने लगता है और वह बेसहारा सा खिचता चला जाता है।

अम्बेदकर जी ने महार जाति या सभी पिछड़ी जातियों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए सब कुछ किया, चाहे वह धर्म परिवर्तन ही क्यों न हो प्रस्तुत रचना के विषयक्षेत्र में यह संदर्भ प्रासंगिक भी था और लेखक इससे चूका नहीं किन्तु अम्बेदकर जी उस सम्पूर्ण चिन्तन के साथ वह केवल आन्दोलन के स्तर पर ही जुड़ता है व्यवहार के स्तर पर नहीं।

'अछूत' आर्थिक विषमता के भयावह दबाव तथा पिछड़ी जाति के यानी महार होने के सामाजिक शोषण की यातना की दोहरी त्रासदी है। दगड़ू की आँख ने जो देखा वह बेपरदा होकर सामने आता है—और बेशक दगड़ू ने बहुत खौफ़नाक तस्वीरें देखी हैं...उसका बचपन माँ की पीड़ा और उसका अपमान देखता है जो उसके भीतर अपराधबोध तथा चोट खाए अहं को जन्म देते हैं...उसका यौवन अपने समाज के बेतरतीब ढाँचे, पिता के रूप में ढहते हुए संस्कार-मूल्य, मराठा-महार संघर्ष, अछूत-भाव से बार-बार अपमानित स्वयं और बेकाबू होता अपना परिवार देखता है...फिर से सब कुछ जुड़ता है किन्तु एकदम खाली और खोखला ! चूंकि आखिरकार फिर भी भीतर वही रहता है—वही भाव, वही उपेक्षा, वही अपमान, सिर्फ निम्न-मध्यवर्गीय आर्थिक सुरक्षा और तज्जनित सामाजिक 'प्रतिष्ठा' के कारण लोगों को कुछ मुलम्मा चढ़ाना पड़ता है। अपने कटु दुर्गंधयुक्त चेहरे पर ! यह शाश्वत और बहुकोणीय विसंगति अपने पूरे बोझ के साथ पाठक के दिलो-दिमाग पर बराबर उजागर होती जाती है। यह रचना एक विशिष्ट वर्ग के ज़रिए पूरे दलित वर्ग के संघर्ष को देख पाने का झरोखा है। इस झरोखे को दया पवार ने बड़ी निमर्मता और ईमानदारी के साथ खोला है। परन्तु इसमें संघर्ष के छोटे-छोटे ही चित्र है जो पूरे विरोध को बिखेरते चलते हैं एक तार में बाँधकर एक दीवार नहीं बनाते।

यदि इस रचना के रचनाकार की संवेदना का विस्तार इस सीमा तक न हुआ होता तो इतनी सब बातें कहने की बजाय एक साधारण प्रशंसा भरी समीक्षा ही काफ़ी होती। पर जब रचना एक ऐसे स्तर से उठी हो जहाँ पर रचनाकार के लिए दोनों ही मौके हों—ऊपर जाने का भी और लौट पड़ने का भी—तो उस समय रचनाकारों का पारस्परिक धर्म यही है कि एक दूसरे के सामने उपस्थित ख़तरों की तरफ़ भी ज़रूर संकेत करें।

अवस्था : समकालीन भारतीय अनुभव से पहचान

□ प्रयाग शुक्ल

यू० आर० अनंतमूर्ति ने 'अवस्था' में समकालीन भारतीय अनुभवों को एक औपन्यासिक गठन में बदलने की कोशिश की है। और यह कोशिश बहुत महत्वपूर्ण है। यह उपन्यास अपने ढंग का पहला उपन्यास है जिसमें जटिलतर और मानों इसीलिए अभेद्य होते गए समकालीन भारतीय यथार्थ को हाड़-माँस के पात्रों के माध्यम से भेदने की एक गहरी छटपटाहट है। इसमें इस बात का एक गहरा स्वीकार भी है, बल्कि आंतरिक आग्रह, कि जब तक हम इस यथार्थ के सभी पहलुओं को रचनात्मक गद्य में प्रत्यक्ष नहीं कर लेंगे तब तक कम से कम साहित्य के क्षेत्र में मूल्यहीन राजनीति और भ्रष्ट सामाजिक शक्तियों के सामने अवसन्न से रहेंगे। दूसरे शब्दों में आज की अवस्था को देखने-समझने का एक वास्तविक शब्द-संदर्भ बहुत जरूरी है। ऐसा शब्द-संदर्भ जो पत्रकारिता और राजनीतिक शब्द-व्यवहार से न केवल बहुत गहरा हो, उसके मंथन की प्रक्रिया भी कुछ और हो।

उपन्यास का नायक कृष्णप्पा ग्रामीण परिवेश में पला-बढ़ा है। घटनाचक्र ने उसे विश्वविद्यालयी शिक्षा दिलायी है और अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक उतार-चढ़ावों के

अवस्थालेखक : यू० आर० अनंतमूर्ति, कन्नड़ से अनुवादक : भालचन्द्र जयशेट्ठी।
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२, मूल्य २२ रु०।

बीच ला खड़ा किया है। केवल ला नहीं खड़ा किया, अनेक घातों-प्रतिघातों को झेलने का माध्यम बनाया है। कृष्णप्पा के चरवाहा-मन और उसके उन्मुक्त बचपन ने ऐसा **स्वभाव** बनाया है कि किसी चीज को केवल बुद्धि और विचार से नहीं, उसे सूँघकर, स्पर्श कर भी परखो। एक के बाद एक कृष्णप्पा उन छलावों के बीच होता है जो नए सामाजिक-राजनीतिक तंत्र ने खड़े किए हैं। लेकिन कृष्णप्पा ने यह भी सीखा है कि यथार्थ को केवल स्याह-सफेद में नहीं समझा जा सकता। ऐसे में वह क्या करे? यथार्थ को अपने लिए निरंतर जटिल पाकर अपने को उसके बीच डूबता हुआ देखे या यथार्थ भले स्याह/सफेद न होता हो, लेकिन कुछ सफेद भी होता है—सफेद नाम की भी चीज होती है—मानकर उस 'सफेदी' की खोज जारी रखे? कह सकते हैं कि इस सफेदी की खोज ही उपन्यास का मूल है।

और इसी लिहाज़ से यह उपन्यास भावुक प्रकटीकरणों और भावुक आदर्शों का न रह कर एक यथार्थ नैतिक बोध का उपन्यास बन जाता है: इसके अन्त में धीरोदात्त नायक की कोई आदर्श विजय न होकर, उसका जारी रहनेवाला संघर्ष ही है।

उपन्यास की शुरुआत ५० वर्षीय कृष्णप्पा के बिस्तर पर मरणासन्न पड़े होने से होती है: उस कृष्णप्पा के बिस्तर पर पड़े होने से जिसके बारे में महेश्वरय्या कहा करते थे 'तुझमें एक बबर है रे'। महेश्वरय्या ही थे जिन्होंने कृष्णप्पा को पहचाना था और उसकी पढ़ाई का इंतज़ाम किया था। ठीक ही पहचाना था महेश्वरय्या ने कृष्णप्पा को: कृष्णप्पा ने कभी आत्म-दया से काम नहीं लिया, अन्याय के सामने माथा नहीं टेका। लेकिन आज अपनी 'अवस्था' के सामने कुछ लाचार-सा हो गया है। उपन्यास का नाम 'अवस्था' प्रतीकात्मक है। वह कृष्णप्पा की अवस्था को लेकर भी है और देश-समाज की अवस्था को लेकर भी। दरअसल पूरा उपन्यास ही प्रतीकात्मक है। इस अर्थ में नहीं कि वह प्रतीक-पात्रों या प्रतीक-घटनाओं का ही सहारा लेता है बल्कि इस अर्थ में कि पात्रों और घटनाओं के मर्म के अंत प्रतीकों में भी बदल जाते हैं। कृष्णप्पा बन जाता है उस भारतीय मन का मर्म-प्रतीक जो प्रकृति की निकटता में जीता रहा है, जिसके भीतर सदियों से एक 'आध्यात्मिक' रसायन बनता रहा है, जो सामंती समाज में छीजता रहा है, जो धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त होता चला गया है, जिसकी अस्तित्व संबंधी जिज्ञासाएँ अनंत रही हैं, जिसके लिए आत्मीयता एक ज़रूरी भूख रही है, जिसने सहज ज्ञान को बड़ी चीज़ माना है, जिसने बुद्धि को बराबर भावना से जोड़कर देखा है आदि और जो अंग्रेज़ी राज में बने शहरों, सीमित शक्ति-इकाइयों की असीमित शक्ति, उपभोक्ता वस्तुओं की छीनाझपटी, बढ़ते गए प्रलोभनों, भ्रष्ट होते गये समाज और शासन तंत्र से आज त्रस्त है। और जिसमें इच्छा जगी है समता की, अन्याय के प्रतिकार की, जो देख रहा है दबी-छिपी मुखर क्रूरताएँ, अवसरवादिता, चीज़ों और पुराने मूल्यों का विखंडित होना, देख रहा है आधुनिकता के छद्म, दल बदल, व्यक्ति बदल आदि। कैसे हो अन्याय का प्रतिकार? कैसे बचे एक पूरा आत्मीय। मानवीय मन? कैसे रुके व्यक्ति और समाज का स्खलन? "गौरी, लगता है हम साबुत बचेंगे ही नहीं।" बड़ी यातना के साथ कृष्णप्पा ने अपनी मौजूदा हालत बयान करने की चेष्टा की। लेकिन आगे वह अपनी दो इच्छाएँ बताता है जो जितनी निजी हैं उतनी ही सामाजिक। "मन चाहता है कि पीपल के नीचे बैठकर समय की निरंतरता का अनुभव करूँ। कभी-कभार दिखायी पड़ने वाले उस पक्षी को देखकर जो हैरत उन दिनों होती थी, उसे फिर से अनुभव करने को जी चाहता है...दूसरी एक ख्वाहिश भी है। उसमें और इसमें मुझे कोई फ़र्क दिखायी नहीं पड़ता।

लेकिन मैं इसे कैसे बयान करूँ कि यह तुम्हें हक़ीकत लगे ? कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। इस देश में हम सभी किनारे से लगे हुए लोग हैं। इन लोगों की सुविधाएँ बढ़ाने की राजनीति आज तक चलती रही। अब मुझे महसूस होने लगा है कि हमें जो ओछापन घेरे रहता है, इस राजनीति से उसका छुटकारा संभव नहीं। इस बारे में मैं अण्णाजी के साथ बहुत चर्चा किया करता था कि हमारी दैनंदिनी कैसे चमक सकती है ? हमारे इतिहास में ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने कभी किनारा देखा ही नहीं है। ऐसे लोगों का अगर क्रोध भड़काना संभव हो जाए तो क्या वह क्रोध समाज के इस ओछेपन को जलाकर राख नहीं बना देगा ? यह ख्वाहिश अभी बाकी है।"

यहाँ यह उद्धरण ज़रूरी लगा—यह उपन्यास का उपसंहार है—लेकिन यह बताना भी ज़रूरी है कि यह उपन्यास की मूल शैली नहीं है। उपन्यास में एक कथाक्रम बना रहता है और इसी कथा-क्रम के बीच विचार-सारणियाँ आती रहती हैं : आज की अवस्था को लेकर एक नैतिक-सामाजिक-राजनैतिक बहस चलती रहती है। अंग्रेज़ी का प्रभुत्व, जातिवाद, हिंसक राजनीति, बैरागी जीवन, राजनीति और नवधनाढ्यों की गठजोड़, स्त्री-पुरुष संबंध, किसान-संघर्ष, जेल जीवन, सत्ता का दुरुपयोग—कृष्णप्पा ने इन सबका अनुभव मानों वैचारिक स्तर पर ही नहीं किया, देह-मन पर इन सबको झेलते हुए ही वह पचास का हुआ है। अपनी शक्तियों, कमज़ोरियों, वासनाओं के साथ ही उसने आदमी के मन के हज़ार कोनों को देखने-स्पर्श करने की चेष्टा की है। समाजवादी नेता कृष्णप्पा की जीवनी लिख रहे युवक नागेश (जो अभी कितना निश्छल है) के सामने कृष्णप्पा जब भी बहकता है, कुछ छिपाता है, उसे एक कचोट सी होती है। वह जानता है कि जिस जाल में वह उलझा है, उसी में आगे नागेश को भी उलझना है। लेकिन स्थितियों की दहल के बीच आत्मा की चमक और निरंतर सक्रियता ही तो इस जाल को झुलसा कर—जहाँ-तहाँ से झुलसा कर—मुक्ति का माध्यम बन सकती है। मुख्यमंत्री पद पर कृष्णप्पा को आसीन करवा कर भ्रष्ट राजनीतिक-सामाजिक शक्तियाँ जो खेल रचना चाह रही हैं, उसे पहचान कर कृष्णप्पा असेंबली की सदस्यता से पहले ही अपना त्यागपत्र देता है।

उपन्यास का अंत जैसे कुछ जल्दी में किया गया है। अंत की घटनाएँ किसी फ़िल्म के लिए संपादित की गयी घटनाओं जैसी लगती है। और उपन्यास के पूर्वार्द्ध की एकाग्रता जैसे उत्तरार्द्ध में छिन्न-सी होने लगती है। संरचना और ग्रंथन के लिहाज़ से 'अवस्था', अनंतमूर्ति के पहले उपन्यास 'संस्कार' से कुछ कमज़ोर लगता है लेकिन 'अवस्था' का फलक चूँकि अधिक बड़ा है, इसलिए उसे निभाने की कुछ कठिनाइयाँ तो थीं ही। फिर भी—जैसा कि हमने पहले कहा—एक कोशिश के रूप में अवस्था बहुत महत्वपूर्ण है और आज हमारे मन को मथने वाली सभी स्थितियों की एक सजीव उपस्थिति इसमें है। कृष्णप्पा, अण्णाजी, चनवीरय्या, महेश्वरय्या, बैरागी, हनुमनायक, कृष्णप्पा, गौरी, कृष्णप्पा की माँ, कृष्णप्पा की पत्नी सीता, नागेश, आदि इतना अधिक भारतीय स्थितियों के मन-प्रतीक हैं कि एक से अधिक अर्थों में हम अवस्था को एक 'भारतीय उपन्यास' कह सकते हैं।

अनुवाद की कमज़ोरियाँ कहीं-कहीं बहुत खटकने वाली हैं। लेकिन उपन्यास का कथ्य इन कमज़ोरियां के बीच भी 'बोलता' रहता है।

नेशनल के वे नये उपन्यास—
जो मर्मस्पर्शी और विचारोत्तेजक हैं !

- **काला जल** : शानी
  प्रख्यात कथाकार के बहुचर्चित उपन्यास का
  नया संस्करण—नये रूपाकार में— ४५.००
- **शतघ्नी** : वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य
  भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता उपन्यासकार का
  बेहद मर्मस्पर्शी उपन्यास। १५.००
- **हुजूर दरबार** : गोविन्द मिश्र
  नयी पीढ़ी के सशक्त उपन्यासकार का महत्वाकांक्षी
  प्रयास—एक महत्वपूर्ण औपन्यासिक रचना। ३५.००
- **अनित्य** : मृदुला गर्ग
  प्रतिष्ठित उपन्यास-लेखिका का अत्यंत
  विचारोत्तेजक सशक्त उपन्यास। ३७.००
- **क्योंकि** : शशिप्रभा शास्त्री
  प्रतिष्ठित उपन्यासकार का बिलकुल नया
  उपन्यास, जो आपको सुखद अनुभव देगा। १५.००
- **कंदील का धुआँ** : दिनेशनंदिनी डालमिया
  प्रख्यात कथाकार का अत्यंत रोमांचक
  आत्मकथात्मक उपन्यास। ३५.००
- **चित्तकोबरा** : मृदुला गर्ग
  मृदुला जी का एक विवादास्पद उपन्यास—
  अब नये तीसरे संस्करण में। २०.००
- **अँधेरे से परे** : सुरेन्द्र वर्मा
  युवा पीढ़ी के प्रख्यात नाटककार का
  अत्यंत विचारोत्तेजक पहला उपन्यास। शीघ्र प्रकाश्य

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
शाखाएँ : जयपुर, इलाहाबाद

साहित्य अकादेमी द्वारा हिन्दी में प्रकाशित पाश्चात्य साहित्य के अमर रत्न

उपन्यास

राख और हीरे : (पोलिश उपन्यास 'पोपिओल इ दियामेन्त') ले० येर्ज़ी आन्द्रज़ेयेव्स्की। अनुवादक : रघुवीर सहाय। पृष्ठ २४८, (१९७८)। मूल्य : १८.००

डान क्विक्ज़ोट : (स्पेनिश उपन्यास) ले० सरवान्तीस। अनुवादक : छविनाथ पाण्डेय। पृष्ठ ५१४, द्वितीय संस्करण (१९७१)। मूल्य : ११.००

नाटक

ऑथेलो : (अंग्रेज़ी नाटक) ले० शेक्सपियर। अनुवादक : दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी। पृष्ठ १४०, द्वितीय संस्करण (१९७१)। मूल्य : ३.००

मोलियर के दो नाटक (फ्रेंच नाटक) : अनुवादक : ब्रजनाथ माधव वाजपेयी। पृष्ठ १७४, द्वितीय संस्करण (१९६७)। मूल्य : ४.००

अगमेम्नन (ग्रीक नाटक) : ले० ईस्खिलुस। अनुवादक : बालकृष्ण राव। पृष्ठ ११४ (१९६९)। मूल्य : ४.५०

मुर्ग़ाबी(नार्वेजियन नाटक 'दि वाइल्ड डक'): ले०हैनरिक इब्सन। अनुवादक : यशपाल। पृष्ठ १७२ (१९७०)। मूल्य : ४.००

आर० यू० आर० (चैक नाटक) : ले० कारेल चापेक। अनुवादक : निर्मल वर्मा। पृष्ठ २०४ (१९७२)। मूल्य : ४.००

कहानियाँ

सात युगोस्लाव कहानियाँ : पृष्ठ ६८, द्वितीय संस्करण (१९६७)। मूल्य : २.५०

बारह हंगारी कहानियाँ : पृष्ठ २००, (१९७४)। मूल्य : १०.००

झोंपड़ी वाले और अन्य कहानियाँ : (रूमानियायी कहानियों का संकलन) ले० मिहाइल सादोवँनू। अनुवादक : निर्मल वर्मा। पृष्ठ १६४, तृतीय संस्करण (१९७६)। मूल्य : ७.००

विविध

वाल्डेन सरोवर : (अमरीकी लेखक हेनरी डेविड थोरो के एकान्त जीवन के अनुभव) अनुवादक : बनारसीदास चतुर्वेदी। पृष्ठ ३२६, द्वितीय संस्करण (१९७१)। मूल्य : ७.५०

राजा : (इतालवी क्लासिक 'दि प्रिंस') ले० माकियावेल्ली। अनुवादक : रामसिंह तोमर। पृष्ठ १२० (१९७०)। मूल्य : ४.००

पथ का प्रभाव :(चीनी क्लासिक 'ताओ-ते-चिंग') ले० लाओ-त्से। अनु० : जगदीशचन्द्र जैन। पृष्ठ ७१ (१९७३)। मूल्य : २.५०

•

साहित्य अकादेमी के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

साहित्य के इतिहास

१. **मलयालम साहित्य का इतिहास** : ले०पी०के० परमेश्वरन नायर। हिन्दी अनुवादक : सी० आर० नानप्पा। पृष्ठ ३०४ (१९६८)। मूल्य : १२.००

२. **कन्नड़ साहित्य का इतिहास** : ले० आर० एस० मुगली। हिन्दी अनुवादक : सिद्ध गोपाल पृष्ठ ३१८ (१९७१)। मूल्य : १२.००

३. **बंगला साहित्य का इतिहास** : ले० सुकुमार सेन। हिन्दी अनुवादिका : निर्मला जैन। पृष्ठ ३९८ (१९७८)। मूल्य : ३०.००

४. **सिन्धी साहित्य का इतिहास** : ले० एल० एच० अजवाणी। हिन्दी अनुवादक : आनन्द खेमाणी। पृष्ठ २५८ (१९७८)। मूल्य : २०.००

५. **समसामयिक हिन्दी साहित्य** :
सम्पादकत्रय : 'बच्चन', नगेन्द्र और भारतभूषण अग्रवाल। पृष्ठ ४२४ (१९६७)। मूल्य : १०.००

काव्य-संकलन

भारतीय कविता : १९५४-५५। पृष्ठ ८३८ (१९६१)। मूल्य : १२.००

भारतीय कविता : १९५८-५९। पृष्ठ ६४० (१९७२)। मूल्य : १५.००

पंजाबी कवितावली : सम्पादिका : अमृता प्रीतम। हिन्दी अनुवादक : हरिवंश। पृष्ठ ४२० (१९६८)। मूल्य : १२.००

हिन्दी काव्य संग्रह : सम्पादक : बालकृष्ण राव। पृष्ठ ४४२ (१९६९)। मूल्य : १६.००

●

समाचार पंजीयन (केन्द्रीय) नियम १९५६ के ८वें नियम से सम्बन्धित प्रेस और पुस्तक अधिनियम की धारा १९-डी की धारा बी के अन्तर्गत 'समकालीन भारतीय साहित्य' नामक पत्र के स्वामित्व व अन्य बातों का ब्यौरा :

प्रपत्र चतुर्थ (देखें नियम ८)

१. प्रकाशन का स्थल	साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-१
२. प्रकाशन की आर्वतिता	त्रैमासिक
३. प्रकाशक व मुद्रक का नाम	र० श० केलकर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	सचिव, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-१
४. सम्पादक का नाम	गुलशेर खान शानी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-१
५. मुद्रण का स्थान	रूपाभ प्रिंटर्स, ४/११५ विश्वासनगर, दिल्ली-३२
६. स्वामित्व	साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-१

मैं, र० श० केलकर, घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है।

हस्ताक्षर

र० श० केलकर

साहित्य अकादेमी द्वारा हिन्दी में प्रकाशित कथा-साहित्य

१. परशुराम की चुनी हुई कहानियाँ

इस संग्रह में बंगला के सुप्रसिद्ध हास्य कथाकार राजशेखर बोस (परशुराम) की १२ प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। अनुवादक : प्रबोध कुमार मजूमदार। पृष्ठ २०२, चतुर्थ संस्करण (१९७०)। मूल्य : ३.००

२. चुनी हुई सिन्धी कहानियाँ

इस संग्रह में सिन्धी भाषा के २६ प्रमुख कथाकारों की चुनी हुई कहानियाँ हैं। अनुवादक : मोतीलाल जोतवाणी। पृष्ठ २१२, द्वितीय संस्करण (१९७६)। मूल्य : १०.००

३. आन्ध्र कथा मंजूषा

प्रस्तुत संग्रह में तेलुगु भाषा की १६ उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। अनुवादक : आर० वेंकटराव। पृष्ठ ३२६, द्वितीय संस्करण (१९७७)। मूल्य : १५.००

४. नीला अम्बर काले बादल

इस संग्रह में डोगरी के विशिष्ट कथाकार नरेन्द्र खजूरिया की १५ कहानियाँ सम्मिलित हैं। अनुवादक : देवरत्न शास्त्री। पृष्ठ ११६, (१९७८)। मूल्य : ८.००

५. सात शिखर

अख़्तर मोहिउद्दीन की ७ कश्मीरी कहानियों का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : शशि शेखर तोशखानी। पृष्ठ ७८, द्वितीय संस्करण (१९७१)। मूल्य : ३.५०

६. कन्नड़ लघु कथाएँ

प्रस्तुत संकलन में कन्नड़ भाषा की २३ कहानियाँ हैं। अनुवादक : गुरुनाथ जोशी पृष्ठ २९६, (१९७७)। मूल्य : ५.००

साहित्य अकादेमी
द्वारा
'भारतीय साहित्य के निर्माता-ग्रन्थमाला'
के अन्तर्गत प्रकाशित हिन्दी पुस्तिकाएँ

इस क्रम में अब तक ५० पुस्तिकाएँ निम्नलिखित साहित्यकारों पर प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रत्येक पुस्तिका का मूल्य दो रुपये पचास पैसे है।

(१) इलंगो अडिगल (२) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (३) केशवसुत (४) कुमारन् आशान (५) ग़ालिब (६) तरुदत्त (७) प्रमथ चौधुरी (८) प्रेमचन्द (९) नामदेव (१०) राजा राममोहन राय (११) लक्ष्मीनाथ बेज़बरुआ (१२) वीरेशलिंगम् (१३) वेमना (१४) सचल सरमस्त (१५) शाह लतीफ (१६) श्रीपाद कृष्ण कोल्हाटकर (१७) जीवनानंद दास (१८) चण्डीदास (१९) ज्ञानदेव (२०) काज़ी नज़रुल इस्लाम (२१) नामलाल (२२) पोतन्ना (२३) सरोजिनी नायडू (२४) बंकिमचन्द्र चटर्जी (२५) ताराशंकर बंद्योपाध्याय (२६) बि० एम० श्रीकंठ्य्य (२७) महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर (२८) माणिक बंद्योपाध्याय (२९) नरसिंह चिन्तामण केलकर (३०) कल्हण (३१) वेदम वेंकटराय शास्त्री (३२) फ़कीरमोहन सेनापति (३३) मेघाणी (३४) नर्मदाशंकर (३५) हरिनारायण आप्टे (३६) सूर्यमल मिश्रण (३७) राहुल सांकृत्यायन (३८) सरलादास (३९) राधानाथ राय (४०) कम्बन (४१) भारती (४२) जयशंकर प्रसाद (४३) रैदास (४४) ए० आर० राजराज वर्मा (४५) बुद्धदेव बसु (४६) विद्यापति (४७) भवभूति (४८) गोवर्धन राम (४९) महाकवि उल्लूर (५०) लल द्यद।

कृपया पुस्तकों की प्राप्ति एवं अन्य जानकारी हेतु हमें निम्नलिखित पते पर लिखें:

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन
३५, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१

●

साहित्य अकादेमी क्षेत्रीय कार्यालय (कलकत्ता)
रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम
ब्लाक V-बी, कलकत्ता-७०००२९

●

साहित्य अकादेमी क्षेत्रीय कार्यालय (मद्रास)
२९, एलडाम्स रोड, मद्रास-६०००१८

●

साहित्य अकादेमी क्षेत्रीय कार्यालय (बम्बई)
१७२, मुंबई मराठी संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई-४०००१४

डॉ० र० श० केलकर, सचिव, द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा रूपाभ प्रिंटर्स, ४/११५ विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२ में मुद्रित।